कोश-कला

मूल्य १॥)

पहला संस्करण
पौष सं० २००९

प्रकाशक—साहित्य-रत्न-माला कार्यालय, २० धर्म्म कूप, बनारस
मुद्रक—ओम् प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, बनारस. ४२६३-०९

नम्र निवेदन

चार-पाँच वर्ष पहले की बात है। सारी परिस्थिति तो याद नहीं, पर इतना ध्यान है कि काशी नागरी-प्रचारिणी सभा में एक प्रतिष्ठित सज्जन, कदाचित् कोई उच्च राजकीय अधिकारी या राज्य-मंत्री, पधारे थे। उनके सामने सभा की कुछ बातें रखी जाने को थीं। सभा द्वारा प्रकाशित शब्द-कोशों के सम्बन्ध में कुछ कहने का भार मुझे सौंपा गया था। उस अवसर पर मैंने कहा था कि शब्द-कोश तैयार करना उतना सहज नहीं है, जितना वह आज-कल हिन्दी में समझा जाता है। वह भी एक कला है, जिसका विचार-पूर्वक अध्ययन और अभ्यास करना पड़ता है। वहाँ से उठकर बाहर निकलने पर मेरे सुयोग्य और होनहार मित्र श्री शिवनाथजी ने मुझसे कोश-कला पर कुछ लिखने का अनुरोध किया था। अनुरोध में कुछ आकर्षण था, इसलिए उसने मेरे मन में घर-सा कर लिया। फिर भी बात जहाँ की तहाँ रह गई। कोई तीन वर्ष पहले जब प्रामाणिक हिन्दी कोश का पहला संस्करण तैयार हुआ, तब मैंने उसकी प्रस्तावना में हिन्दी के कोशों की अनेक प्रकार की त्रुटियों की चर्चा और उनके परि-मार्जन का उल्लेख करके संक्षेप में यह बतलाया था कि कोशों के लिए शब्दों का चुनाव कैसे होना चाहिए, शब्द-भेद किस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से स्थिर किये जाने चाहिएँ; अर्थ, मुहावरे और उदाहरण किस प्रकार दिये जाने चाहिएँ, आदि आदि। और इस प्रकार मैंने मानों श्री शिवनाथजी के उक्त अनुरोध का आंशिक रूप से पालन किया था। पर उस छोटी-सी प्रस्तावना में सब बातें तो आ ही नहीं सकती थीं। बहुत-सी बातें ऐसी थीं, जो

मन ही में रह गई। जुलाई १९५२ में लखनऊ के डॉ० हेमचन्द्र जोशी ने मेरे एक लेख के लम्बे-चौड़े उत्तर में एक जगह लिखा था—'सच बात तो यह है कि कोश लिखना एक विज्ञान (या कला ?) ही है, जिसका हमें हिन्दी में बहुत कम पता है, बात भी सोलहो आने ठीक है। यदि हिन्दीवालों को सच-मुच इस बात का पता होता कि कोश तैयार करना भी एक कला[1] है, तो हिन्दी शब्द-सागर के बाद अब तक हिन्दी में एक-दो अच्छे कोश तो बन ही गये होते, भले ही वे उतने विशाल या विस्तृत न होते। पर जितने कोश मेरे देखने में आये, वे सब प्रायः सर्वांश में शब्द-सागर के आधार पर ही बने हुए दिखाई दिये। किसी में कोश-कला, शब्द-संग्रह, अर्थ-परिमार्जन आदि की दृष्टि से शब्द-सागर से आगे बढ़ने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। शायद इसी बात का ध्यान रखकर एक अवसर पर मेरे प्रिय मित्र श्री राय कृष्णदास जी ने हँसते हुए कहा था—'अब हम भी एक कोश तैयार करेंगे। उसका नाम होगा—कैंची-लेई कोश।' और सचमुच हिन्दी में कोश तैयार करने के लिए दो-चार कोश सामने रख लेने के सिवा किसी विशिष्ट कर्तृत्व की आवश्यकता नहीं समझी जाती। पर यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो कोश-सम्पादन का काम सब प्रकार के साहित्यिक कामों से बहुत अधिक कठिन और परिश्रम-साध्य है और बहुत अधिक योग्यता की अपेक्षा रखता है। यदि काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की कृपा से हिन्दी शब्द-सागर और उसका संक्षिप्त संस्करण न निकल गया होता, तो सम्भवतः आज हिन्दी का कोश-क्षेत्र बहुत-कुछ सूना ही दिखाई देता।

---

१. तार्किक दृष्टि से इस विषय में बहुत-कुछ मत-भेद हो सकता है कि कोश-रचना का अन्तर्भाव विज्ञान में होना चाहिए या कला में। मेरी समझ में यह विषय 'कला' के ही अंतर्गत आता है।

काम दो प्रकार से होते हैं। एक तो स्वार्थ भाव से; दूसरे परोपकार या सेवा की दृष्टि से। प्रकाशक प्रायः स्वार्थ भाव से ही प्रकाशन-क्षेत्र में आते हैं। उन्हें केवल धन चाहिए। बहुत कम प्रकाशक ऐसे होते हैं जो साहित्यिक कृतियों के गुण-दोषों की अच्छी जानकारी या पूरी परख रखते हों। उन्होंने तो जिस चीज की अच्छी बिक्री देखी, उसकी उलटी-सीधी नकल कर करा-के अपना काम चलता किया। प्रकाशकों के सौभाग्य से कोश-प्रकाशन का काम निरापद भी है, लाभ-दायक भी और सुगम भी। वे जानते हैं कि कोश, व्याकरण, इतिहास आदि के ग्रन्थों की चोरी और नकल सहज में की जा सकती है; क्योंकि इन पर प्रतिक स्वत्व प्रायः नहीं के बराबर होता है। बस कुछ रुपये लगाने और किसी को सम्पादन-कार्य के लिए राजी कर लेने से ही सारा काम हो जाता है। हिन्दी में अधिकतर कोश ऐसे ही हैं जो प्रकाशकों ने उक्त प्रकार से केवल आर्थिक लाभ की दृष्टि से तैयार कराये हैं। ऐसे कोशों की सब से बड़ी पहचान यह है कि उनके पहले संस्करणों में एक बार जो कुछ छप गया, वह ब्रह्मा का लेख हो गया। अब उसके जितने संस्करण चाहिए, छापते चलिए। दोहराना तो दूर रहा, उसके कर्त्ता या सम्पादक से पूछने की भी आवश्यकता नहीं। भय यह रहता है कि कहीं पूछने पर फिर उनकी कुछ भेंट-पूजा न करनी पड़े। जब तक कुछ खिलाये-पिलाये बीना गौ दूध देती रहे, तब तक सानी-भूसी का झगड़ा क्यों मोल लिया जाय! और अच्छे कोशों के अभाव में साधारण कोशों की बिक्री धड़ल्ले से होना स्वाभाविक ही है।

काम करने का दूसरा प्रकार है—लोकोपकार और सेवा-भाववाला। इसी प्रकार से किया हुआ काम ठीक भी होता है और स्थायी भी। हिन्दी में नाम लेने योग्य छोटे-मोटे कई

तरह के कुछ ऐसे कोश हैं, जो विशुद्ध साहित्य-सेवा के भाव से या किसी विशिष्ट दृष्टि-कोण से तैयार किये या कराये गये हैं। जैसे—मानस-कोश, पर्यायवाची कोश, भिन्न भिन्न वैज्ञानिक विषयों की शब्दावलियाँ आदि। अभी हाल में लखनऊ विश्व-विद्यालय की ओर से बनकर जो सूर कोश प्रकाशित होने लगा है, वह कोश-कला की दृष्टि से बहुत कुछ सदोष होने पर भी, इसी लिए आदरणीय और विशेष महत्त्व का है कि वह सेवा-भाव से तैयार किया जा रहा है। और जब तक सुयोग्य विद्वान्, विशुद्ध सेवा-भाव से प्रेरित होकर कोश-निर्माण के काम में न लगेंगे, तब तक हिन्दी में आर्थिक लाभ की दृष्टि से कोश तैयार करने-करानेवालों का बोल-बाला रहेगा ही।

यह ठीक है कि अच्छे शब्द-कोश तैयार कराना सरकार का काम है। विशेषतः जिस सरकार या जिन सरकारों ने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा और राज-भाषा मान लिया हो, उनका तो यह और भी बड़ा कर्त्तव्य हो जाता है। पर सरकारें यांत्रिक रूप से चलती हैं और उन तक पहुँचने के मार्ग भी कुछ विशिष्ट प्रकार के और यांत्रिक ही होते हैं। सेवा-भाव से काम करनेवाले सच्चे साहित्यिक प्रायः सबसे अलग रहकर शान्त भाव से काम करना पसन्द करते हैं; अतः दोनों का संयोग कठिनता से ही होता है। फिर राज्य-सरकारें बहुत करेंगी तो अपना काम चलाने के लिए कुछ शब्दावलियाँ बनवा लेंगी; पर साहित्यिक जगत् के लिए अच्छे कोशों की आवश्यकता फिर भी बनी ही रहेगी। अतः हमें सरकार की ओर से विशेष आशा न रखकर स्वयं अपने पैरों पर खड़े होना है; और अपने साहित्य को सभी दृष्टियों से पुष्ट आधार पर स्थित करना है। राष्ट्र-भाषा के गौरव के उपयुक्त कोश का अभाव देखकर ही मैंने प्रामाणिक हिन्दी कोश की रचना में हाथ लगाया था; और अब तक अनेक

प्रकार की विकट और विरोधी परिस्थितियों में रहकर भी बराबर उसका काम करता चलता हूँ। पर मेरे सामने काम का जो पहाड़ दिखाई देता है, उसे पूरा करने के लिए अनेक बड़े-बड़े साधनों के अतिरिक्त पूरी एक क्या बल्कि दो पीढ़ियाँ चाहिएँ। यही क्यों, जब तक हिन्दी भाषा जीवित रहेगी, तब तक कोश-निर्माण का काम चलता रहेगा।

यहाँ यह बतला देना भी आवश्यक जान पड़ता है कि इस पुस्तक में कोश-कला के सम्बन्ध में जो नियम या सिद्धान्त बतलाये गये हैं, उनमें से मुख्य नियम या सिद्धान्त हिन्दी शब्द सागर के सम्पादन के समय स्थिर हुए थे। शब्द-सागर के-सम्पादन-काल में जब उन नियमों और सिद्धान्तों में कुछ परिवर्त्तन या सुधार की आवश्यकता होती थी, तब हम लोग आपस में परामर्श करते थे; और प्रत्येक बात के सब अंगों पर यथेष्ट विचार करके नये नियम या सिद्धान्त बनाते थे। जब पं० रामचन्द्र जी शुक्ल हिन्दू विश्वविद्यालय में चले गये, और नागरी-प्रचारिणी सभा के कोश-विभाग का सारा भार मुझपर आ पड़ा, तब भी मैं उनसे मिलकर विचार-विमर्श किया करता था। शुक्ल जी के दुःखद निधन के बाद जब मैंने वर्षों तक शब्द-सागर के परिवर्द्धन तथा संशोधन का काम किया, तब कुछ और नई बातें मेरे ध्यान में आईं। फिर जब मैं नये सिरे से प्रामाणिक हिन्दी कोश का कार्य आरम्भ करने के लिए विवश हुआ, तब नई लगन और नये क्षेत्रों में काम करने के कारण और भी बहुत-सी नई-नई बातें मेरे ध्यान में आने लगीं। इस प्रकार १९१० से अब तक कोश-सम्पादन के कार्य में मुझे जो थोड़ा बहुत या भला-बुरा अनुभव और ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसी का सारांश 'कोश-कला' के रूप में हिन्दी जगत् की सेवा में नम्रतापूर्वक निवेदित है।

कोश-कला की ये सब बातें कभी कहीं लिखकर नहीं रखी गई थीं, केवल मस्तिष्क में उनका आस्थान था। इस वृद्धावस्था में मेरी स्मरण-शक्ति दिन-पर-दिन बहुत ही क्षीण होती जा रही है; अतः सब बातें फिर से याद करने और ढूँढ़ निकालने में बहुत समय लगता है। बहुत-सी बातों के उदाहरण आदि ढूँढ़ना मेरे लिए और भी कठिन होता जा रहा है। विषय बिलकुल नया और बहुत ही विकट है। कदाचित् ही इसका कभी कहीं कोई विवेचन हुआ हो[1]। तिस पर इस विषय की बहुत-सी बातें ऐसी हैं, जो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों या वर्गों की होने पर भी एक दूसरी से ओत-प्रोत रूप से सम्बद्ध हैं; और उनके अलग अलग विभाग करके उपयुक्त अध्यायों में उन्हें स्थान देना बहुत ही कठिन है। तो भी मैंने इस पुस्तक में उसी क्रम से सब बातों के विवेचन का प्रयत्न किया है, जिस क्रम से कोश-रचना की प्रक्रियाएँ चलती हैं—जिस सिलसिले से कोश का काम होता है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि अब भी मेरे इस विवेचन में बहुत-सी बातें छूट गई हैं; और बहुत-सी बातों का पूरा और व्यवस्थित विचार नहीं हो पाया है। हो सकता है कि सुयोग्य आलोचकों तथा सुदक्ष विद्वानों को इसमें कुछ और प्रकार की त्रुटियाँ भी दिखाई दें। मैं तो यही कह सकता हूँ कि जिन सिद्धान्तों के अनुसार चलकर मैं प्रामाणिक हिन्दी कोश के द्वारा हिन्दी में कोश-कला का एक नया आदर्श स्थापित करने का क्षीण प्रयत्न कर रहा हूँ, उन्हीं

---

१. जब मैंने इस पुस्तक का प्रणयन आरम्भ किया, तब अपना कुतूहल शान्त करने के लिए यह पता लगाने का बहुत प्रयत्न किया कि इस विषय पर अब तक कहीं कोई पुस्तक लिखी गई है या नहीं। पर अभी तक मुझे इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाला कहीं कोई साहित्य नहीं मिला। यदि कोई सज्जन कृपाकर मुझे ऐसे साहित्य का पता बता सकें तो मैं उनका विशेष रूप से अनुगृहीत होऊँगा।

सिद्धान्तों का मैंने इस पुस्तक में यथा-साध्य विवेचन किया है; और अब भी मैं अपनी अल्प योग्यता, शक्ति और साधनों के अनुसार उक्त कोश में इसी ढंग पर परिवर्त्तन, परिवर्द्धन और संशोधन करता चलता हूँ। संभव है, आगे चलकर कुछ और नई बातें मेरे ध्यान में आवें; अथवा कृपालु मित्रों से मुझे कुछ नये सुझाव मिलें। उन्हें मैं अगले संस्करण में स्थान देने का प्रयत्न करूँगा।

अन्त में मैं एक और निवेदन कर देना चाहता हूँ। ऊपर मैं कई जगह कह गया हूँ कि हिन्दी शब्द-सागर का कुछ काम मैंने किया है, 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' मैंने बनाया है, 'कोश-कला' मैंने लिखी है, आदि। पर सच पूछिए तो इस प्रकार की बातें कहना मेरी बहुत बड़ी भूल है। घनआनन्द ने एक अवसर पर कहा है—लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तो मेरे कवि बनावत। मैं अनुभव करता हूँ कि यह बात अक्षरशः मुझ पर भी ठीक घटती है। भला मुझमें शब्द-कोश बनाने की योग्यता कहाँ! हाँ शब्द-कोशों के सम्पादन-कार्य ने अलबत्ता मुझे बनाया और काम करने का रास्ता दिखाया है। वही मुझसे प्रामाणिक कोश बनवा रहा है और उसी ने मुझसे यह कोश-कला लिखवाई है। यदि लोग इन चीजों को मेरी रचनाएँ न समझकर मुझे इन चीजों की रचना समझें, तो शायद कुछ ज्यादा ठीक हो। केवल थोड़ा-सा अनुभव, पुराना हिन्दी-प्रेम और बराबर कुछ न कुछ करते रहने की आदत इस अल्पज्ञ के शिथिल शरीर से भी यह सब करा रही है। ईश्वर करे, यह काम सुयोग्य हाथों में पहुँचकर मातृ-भाषा का मुख उज्वल करे।

२० धर्म्म कूप
बनारस

रामचन्द्र वर्म्मा

प्रकरण-सूची

कोश-कला

इस पुस्तक में

एक ऐसे विलक्षण और विषम विषय का विस्तृत और व्यवस्थित वैज्ञानिक विवेचन है, जिसपर आज तक कदाचित् ही कभी कहीं किसी सुविज्ञ ने कुछ विचार व्यक्त किये हों। ४२ वर्षों के कोश-रचना सम्बन्धी कार्यों से लेखक को जो थोड़ा-बहुत अनुभव और ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसी का निचोड़ इस पुस्तक के द्वारा हिन्दी जगत् की सेवा में नम्रतापूर्वक निवेदित है।

१

प्रकार और रूप

यों तो संस्कृत और हिन्दी में 'कोश' शब्द के अनेक अर्थ हैं; पर हम यहाँ उसका जो विवेचन कर रहे हैं, वह एक विशिष्ट अर्थ में है। संस्कृत में यह शब्द दो रूपों में लिखा जाता है—कोश (तालव्य श से) और कोष (मूर्द्धन्य ष से)। कुछ लोग इन दोनों के अर्थों में कुछ भेद भी करते हैं। वे कहते हैं कि

अमुक अर्थों में यह तालव्य श से लिखा जाय, और अमुक अर्थ में मूर्द्धन्य ष से। पर हमारी समझ में इस प्रकार का भेद कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता; उलटे इससे कई तरह की जटिलताएँ बढ़ती हैं। इस शब्द के यों तो पचीसों अर्थ हैं, पर मुख्य अर्थ दो ही तीन हैं। एक तो खजाना, दूसरा म्यान (तलवार का) और तीसरा, किसी प्रकार के पदार्थों और विशेषतः शब्दों तथा उनके अर्थों आदि का संग्रह। यह तीसरा अर्थ भी वस्तुतः पहले अर्थ का ही विस्तृत रूप है; और यहाँ हमारा अभिप्राय इस शब्द के इसी तीसरे अर्थ से है। इस अर्थ में इसे संस्कृत में अभिधान और निघण्टु भी कहते हैं। अभिधान तो साधारणतः उसी अर्थ में प्रचलित है, जिस अर्थ में 'कोश'; जैसे—वाचस्पत्य अभिधान; पर निघण्टु मुख्यतः किसी विशिष्ट विषय की शब्दावली का सूचक है। जैसे—वैदिक निघण्टु, वैद्यक निघण्टु आदि।

हमारे यहाँ प्राचीन काल में अभिधान या कोश प्रायः विषय-विभाग के आधार पर बनते थे। कोई एक विषय या उसका कोई विभाग ले लिया और तब उसमें सब शब्दों का उल्लेख करने लगे। फिर वे होते भी अधिकतर पद्य में थे; इसलिए उनमें शब्दों का विषय-क्रम के अतिरिक्त और कोई क्रम होता भी नहीं था, और हो सकता भी नहीं था। फिर हम इसे ठीक अर्थों में विषय-विभाग भी नहीं कह सकते, क्योंकि सब विषय किसी विशिष्ट क्रम से नहीं रखे जाते थे। वस्तुतः वह ऐसा विषय-विभाग होता था, जिसमें किसी प्रकार के क्रम का कदाचित् ही कोई ध्यान रखा जाता हो। ऐसे कोशों में संस्कृत का अमर-कोश बहुत प्रसिद्ध है, जिसमें विषयों का अच्छा वर्ग-विभाग है। इस प्रकार के कोशों की परम्परा बहुत हाल तक चली आई थी। संवत् १८३१ में श्री हरिविलास कृत 'विष्णु-विलास भाषा कोश' नाम का एक कोश काशी से प्रकाशित हुआ था, जो चौपाइयों में था और जिसमें

समुद्र नाम, वानर नाम, चन्द्र नाम, संग्राम नाम, स्त्री नाम आदि शीर्षकों से शब्दों के पर्याय दिये गये थे। इसके आठ-नौ वर्ष बाद सन् १८८२ में कविराज चन्दन राय कृत 'नामार्णव' नाम का एक कोश बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ था जो दोहों में था। इसमें भी देवता नाम, कल्प-वृक्ष नाम, फौज नाम, तरवारि नाम आदि अलग-अलग तो थे ही; सूकर-ऊँट नाम, शृगाल-स्वान नाम आदि शीर्षकों में ऐसे दोहे भी थे, जिनमें दो-दो तरह के जीवों या पदार्थों के अनेक नाम एक साथ दिये गये थे।

बात यह है कि प्राचीन काल में एक तो सारी विद्या आत्म-सात् करनी पड़ती थी; दूसरे उसका सारा आधार अपने मन या मस्तिष्क को बनाना पड़ता था। उस समय छापे की कला तो थी ही नहीं। सब प्रकार के ग्रन्थ सब जगह या सबके लिए सुलभ नहीं होते थे; इसलिए पांडित्य का मानक ही कुछ और प्रकार का होता था। आज-कल भी विद्या का आधार है तो मन या मस्तिष्क ही, पर उतना अधिक नहीं, जितना पहले था। आज-कल एक तो ज्ञान-विज्ञान बहुत बढ़ गये हैं; और उन पर हजारों नये-नये ग्रन्थ बनकर छपते रहते हैं। अब किसी विषय की सारी बातें रट लेना असम्भव-सा होता जाता है। तिसपर छपे हुए ग्रन्थ अपेक्षाकृत बहुत अधिक सुलभ हो जाने के कारण रटाई की उतनी अधिक आवश्यकता भी नहीं रह जाती।

मान लीजिए, आप किसी विषय का गम्भीर अध्ययन करना चाहते हैं। उस विषय की सौ-पचास पुस्तकें आप इकट्ठी कर लेते हैं और अच्छी तरह पढ़ जाते हैं। आपको उस विषय का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। पर साल दो साल बाद आपको उस विषय की कोई बात याद आती है; और आप उसके सम्बन्ध में कुछ जानना या उसपर कुछ लिखना चाहते हैं। आपको इतना तो याद होता है कि यह विषय हमने कहीं, अथवा अमुक ग्रन्थ में देखा

या पढ़ा है; पर वह ग्रन्थ हाथ में आ जाने पर भी आप वह विषय जल्दी ढूँढ़ नहीं सकते। अथवा आप कोई शब्द तो जानते हैं, पर उसका अर्थ, पर्याय आदि विवरण आप भूल गये हैं। अथवा यह भी हो सकता है कि कोई ग्रन्थ पढ़ते समय आपके सामने कोई नया विषय या उससे सम्बन्ध रखनेवाला कोई शब्द आता है, पर उसका आशय आपकी समझ में नहीं आता। ऐसी परिस्थितियों में कोई विषय या शब्द ढूँढ़ निकालने का क्या उपाय है? ऐसी बातें एक जगह इकट्ठी हो जाने पर भी उद्दिष्ट विषय या शब्द तक पहुँचने का कोई सुगम मार्ग या सुबोध साधन होना चाहिए। बड़े-बड़े विद्वानों ने और विशेषतः पाश्चात्य विद्वानों ने इसके लिए विषय-विभागवाला मार्ग छोड़कर अक्षर-क्रम से युक्त शब्द-क्रमवाला मार्ग निकाला, जो साधारण लोगों के लिए बहुत सुगम भी हो गया और जिससे समय की भी बहुत बचत होने लगी।

अब सभी देशों में सभी प्रकार के छोटे-बड़े शब्द-कोश तो अक्षर-क्रम और शब्द-क्रम से बनते ही हैं[1]; अच्छे, बड़े और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के साथ प्रायः परिशिष्ट के रूप में अनेक प्रकार की अनुक्रमणिकाएँ भी लगती हैं; जैसे—प्रतीकानुक्रमणिका, विषयानुक्रमणिका, शब्दानुक्रमणिका आदि। ऐसी अनुक्रमणिकाओं में, प्रतीक, विशिष्ट शब्द आदि अक्षर-क्रम से दिये रहते हैं; और उनके सामने यह निर्देश भी होता है कि इसका उल्लेख या विवरण अमुक पृष्ठ अथवा अमुक अमुक पृष्ठों में मिलेगा। इस प्रकार व्यापक दृष्टि से विचार करने पर कोश का क्षेत्र बहुत ही विशाल और विस्तृत हो जाता है, जो उसकी महत्ता तथा उपयोगिता में उसी अनुपात में वृद्धि करता है।

१. हिन्दी में अक्षर-क्रम से बननेवाले कुछ आरम्भिक शब्द-कोशों की चर्चा आगे चलकर 'शब्द-क्रम' शीर्षक प्रकरण में की गई है।

शब्द-कोश अनेक प्रकार के होते और हो सकते हैं। उदाहरणार्थ—पौराणिक व्यक्तियों और स्थानों के नामों के कोश; ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामों के कोश (चरित्र-कोश या जीवनी कोश), भौगोलिक स्थानों, नदियों, पर्वतों आदि के नामों और विवरणों के कोश; भिन्न-भिन्न विज्ञानों (जैसे—कृषि, गणित, दर्शन, भौतिक-विज्ञान, वैद्युत् शास्त्र आदि) के पारिभाषिक शब्दों के कोश आदि आदि[1]। इस प्रकार के कोश प्रायः स्वतन्त्र पुस्तकों के रूप में होते हैं। इनके अतिरिक्त बड़े-बड़े ग्रन्थों के अन्त में जो शब्दानुक्रमणिकाएँ आदि लगाई जाती हैं, वे भी कोश के ही क्षेत्र में आती हैं और बहुत कुछ कोश के ही नियमों और सिद्धान्तों के अनुसार बनती हैं। स्थानिक बोलियों या भाषाओं के कोश तो होते ही हैं; जैसे—अवधी कोश, व्रज भाषा कोश आदि। बहुत बड़े-बड़े कवियों के द्वारा प्रयुक्त या मुख्य तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में आये हुए शब्दों के भी स्वतन्त्र कोश होते हैं; जैसे—सूर-कोश, मानस कोश आदि। हो सकता है कि आगे चलकर इसी ढंग पर घनआनन्द, जायसी, पद्माकर आदि द्वारा प्रयुक्त शब्दों के भी कोश बनें। कुछ विशिष्ट कार्यों के लिए या कुछ विशिष्ट विषयों के भी शब्द-संग्रह होते हैं, जो प्रायः 'शब्दावली' कहलाते हैं; जैसे—कृषि-शब्दावली या विधिक शब्दावली। इस प्रकार कोशों का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है। सब प्रकार के कोशों की रचना के नियम और सिद्धान्त मूलतः एक होने पर भी स्वरूपतः कोश प्रायः एक दूसरे से कुछ भिन्न प्रकार के और स्वतन्त्र होते हैं। ये सभी एक बड़े वृक्ष की भिन्न-भिन्न शाखाओं के रूप में होते हैं। पर हमारा मुख्य विषय है, शब्द-कोश; और उसी के सम्बन्ध में हम यहाँ कुछ बातें बतलाना चाहते हैं।

---

१. हमारे यहाँ तो देवी-देवताओं के नामों तक के कोश बनते थे; जैसे—दुर्गा सहस्र नाम, विष्णु सहस्र नाम, शिव सहस्र नाम आदि।

यों तो शब्द-कोश अनेक प्रकार के होते हैं, पर अर्थ के विचार से वे मुख्यतः दो विभागों में बाँटे जा सकते हैं। एक तो वे, जिनमें किसी भाषा के शब्दों के अर्थ उसी भाषा में दिये जाते हैं; और दूसरे वे जिनमें एक भाषा के शब्दों के अर्थ किसी दूसरी भाषा या भाषाओं में दिये जाते हैं। पहले विभागवाले कोशों का नाम प्रायः उसी भाषा के नाम पर होता है, जिसमें शब्द और अर्थ दोनों होते हैं। जैसे—हिन्दी शब्द-सागर, प्रामाणिक हिन्दी कोश, बृहत् हिन्दी कोश आदि। कभी-कभी कुछ ऐसे नाम भी रख लिये जाते हैं, जिनसे उनकी भाषा सूचित नहीं होती; जैसे—शब्द-कल्पद्रुम, शब्दार्थ पारिजात आदि। कभी-कभी कोशकार अपने नाम पर भी कोशों के नाम रखते हैं; जैसे—हिन्दी का पुराना 'मंगल-कोश', 'श्रीधर भाषा कोश', 'गौरी नागरी कोश' आदि; और कभी-कभी अपने आश्रयदाता के नाम पर भी; जैसे—उर्दू 'फरहंग आसफिया' या 'लुगाते किशोरी'। दूसरे विभाग के कोशों के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नियम-सा है कि शब्द जिस भाषा के होते हैं, उसका नाम पहले और अर्थ या व्याख्या जिस भाषा में होती है, उसका नाम बाद में रखते हैं। जैसे—अँगरेजी-हिन्दी कोश, उर्दू-हिन्दी कोश, मराठी-हिन्दी कोश, हिन्दी-बँगला कोश, हिन्दी-मलयालम कोश आदि। इस वर्ग में कुछ कोश ऐसे भी होते हैं, जिनका नाम-करण उनके विषय के आधार पर होता है; जैसे—कचहरी कोश, विधि-शब्दसागर, व्यापारिक कोश आदि। हमारे यहाँ किसी समय हिन्दी और संस्कृत को दबाकर उर्दू (अरबी-फारसी-बहुल हिन्दी) को प्रधानता दी गई थी; और इसी लिए उन दिनों कुछ ऐसे त्रैभाषिक कोश (जैसे—आचार्य मथुराप्रसाद मिश्र कृत ट्राइलिंगुअल डिक्शनरी, या पं० व्रजवल्लभ मिश्र कृत वल्लभ त्रैभाषिक कोश) भी बने थे, जिनमें अँग्रेजी शब्दों के अर्थ उर्दू या अरबी-फारसी और हिन्दी

या संस्कृत दोनों में दिये जाते थे। सन् १८८७ में एक 'कैसर कोश' छपा था जिसमें संस्कृत शब्दों के अर्थ हिन्दी और उर्दू में दिये गये थे। कुछ दिन पहले एक उर्दू-हिन्दी-मराठी कोश भी प्रकाशित हुआ था। सन् १९१० में तखमीस-उल्-लुगात नाम का एक कोश छपा था, जिसमें उर्दू या हिन्दुस्तानी शब्दों के अर्थ फ़ारसी, अरबी, अँगरेजी और संस्कृत में दिये गये थे। पर एक तो ऐसे शब्द-कोश बने ही बहुत कम; और दूसरे अब उनका युग भी बीत गया। अब तो ऐसे कोशों का युग आ रहा है, जिनमें हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलगू आदि भारतीय भाषाओं के शब्दों और उनके पारस्परिक पर्यायों का समावेश हो।

अच्छे शब्द-कोश सदा किसी विशिष्ट उद्देश्य से बनाये जाते हैं। वे किसी विशिष्ट कार्य या विषय से सम्बद्ध तो होते ही हैं, कुछ विशिष्ट वर्ग के लोगों के लिए भी बनाये जाते हैं। कोशकार को मुख्यतः इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि मैं किन लोगों के लिए अपना कोश बना रहा हूँ। कुछ कोश केवल साधारण विद्यार्थियों के लिए होते हैं; कुछ ऊँचे दरजे के विद्यार्थियों के लिए, कुछ साधारण पाठकों के लिए और कुछ अधिक शिक्षितों और समझदारों के लिए। इसी प्रकार कोई कोश वकीलों के लिए हो सकता है, कोई ज्यौतिषियों के लिए और कोई चिकित्सकों के लिए। जो कोश इस प्रकार का कोई उद्देश्य सामने रखकर नहीं बनाया जाता या जिसमें उन लोगों की आवश्यकताओं का ठीक और पूरा ध्यान नहीं रखा जाता, जिनके लिए वह बनता है, वह कोश अन्त में प्रायः निरर्थक सिद्ध होता है और बाजार में उसकी माँग नहीं रह जाती। संक्षिप्त हिन्दी-शब्द-सागर के प्रकाशित होने के बाद मध्यम कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए उसका 'बाल शब्द-सागर' के नाम से जो छोटा संस्करण प्रकाशित हुआ था, वह इसी लिए नहीं चल सका कि उसमें उक्त प्रकार

के विद्यार्थियों की आवश्यकता का ध्यान नहीं रखा गया था—केवल संक्षिप्त शब्द-सागर को और भी अधिक संक्षिप्त करके छोड़ दिया गया था। अतः कोश वही अच्छे होते हैं, जो कोई विशेष उद्देश्य या दृष्टि-कोण सामने रखकर बनाये जाते हैं और जिनमें आदि से अन्त तक उस उद्देश्य की सिद्धि का पूरा प्रयास किया जाता है।

अन्त में हम कोशों के रूप के सम्बन्ध में एक और आवश्यक बात बतला देना चाहते हैं। वह यह कि आदि से अन्त तक सारा कोश सभी दृष्टियों से बहुत ही सन्तुलित होना चाहिए। विशेषतः अर्थ और व्याख्या देते समय बहुत सावधान रहना चाहिए। सब बातें विशेष प्रचलित या मानक शब्द के अन्तर्गत आनी चाहिएँ। एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न पर्यायों में अर्थ या विवरण की पुनरुक्ति नहीं होनी चाहिए। यह न हो कि 'बगूला' में भी सारा विवरण हो और 'बवंडर' में भी; 'बचन' में भी सब अर्थ हों और 'वचन' में भी। एक प्रकार का वृक्ष होता है जिसे कल्प-वृक्ष भी कहते हैं और गोरख इमली भी। हिन्दी शब्द-सागर का संशोधन करते समय मैंने देखा कि उक्त दोनों शब्दों के अन्तर्गत उस वृक्ष से सम्बन्ध रखनेवाली प्रायः सभी बातें थोड़े-बहुत शाब्दिक परिवर्त्तन से कुछ घट-बढ़कर और वह भी बहुत विस्तारपूर्वक आई हैं। ढूँढ़ने पर मुझे उसमें इस तरह के और भी सैकड़ों शब्द मिले। भावी कोशकारों को इस प्रकार के दोषों से बचना चाहिए।

एक ही जोड़, प्रकार या वर्ग के सब शब्द एक ही ढंग से प्रतिपादित होने चाहिएँ। उदाहरण के लिए, यदि अलंकार या छन्द शास्त्र के शब्द लिये जायँ, तो यथा-साध्य सब शब्दों का प्रायः एक-सा विवेचन होना चाहिए। यह नहीं कि कुछ अलं-कारों या छन्दों का विवेचन तो विशेष विस्तृत हो और कुछ

का बहुत ही थोड़ा। हाँ, विशेष महत्त्ववाले या अधिक प्रचलित शब्दों का विवेचन अपेक्षाकृत कुछ विस्तृत भी हो सकता है; अथवा आवश्यकता होने पर उनके सम्बन्ध की कुछ विशिष्ट बातें भी बतलाई जा सकती हैं। प्रायः कुछ शब्द एक-दूसरे के जोड़ के होते हैं अथवा एक दूसरे के विपर्याय होते हैं। ऐसे शब्दों का विवेचन तो एक-सा होना ही चाहिए, उनमें यह भी संकेत होना चाहिए कि यह किसका विपर्याय है या इसका विपर्याय क्या है। अर्थात् सम्बद्ध शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध सूचित करना और प्रायः समान समझे जानेवाले शब्दों में यदि कोई सूक्ष्म अन्तर हो, तो वह भी स्पष्ट करके बतलाना कोशकार का मुख्य काम है।

कभी-कभी कोश में आये हुए शब्दों और अर्थों के साथ उदाहरण देना भी आवश्यक होता है। जिस शब्द का प्रयोग कम होता हो या जो अर्थ कम प्रचलित हो, उसके साथ तो उदाहरण देने ही चाहिएँ; कुछ अवस्थाओं में शब्दों के प्रयोग का ठीक ढंग बतलाने के लिए भी उदाहरण देने चाहिएँ। उदाहरण दो प्रकार के होते हैं—एक तो अन्य कवियों या लेखकों की कृतियों में से लिये हुए उद्धरण; और दूसरे स्वयं कोशकार के बनाये हुए उदाहरण-स्वरूप वाक्य। दोनों में ऐसा स्पष्ट अन्तर होना चाहिए कि पाठकों को किसी प्रकार का भ्रम न हो। आरम्भ में हिन्दी शब्द-सागर में दोनों प्रकार के उदाहरणों के पहले संकेत-स्वरूप उदा०– ही लिखा जाता था। पर मुझे यह बात कुछ ठीक नहीं जँची और मैंने यह क्रम चलाया था कि दूसरों के उद्धरणों को तो उदाहरण मानकर उनके पहले 'उदा०–' लिखा जाय; और स्वयं अपने बनाये हुए वाक्यों के पहले 'जैसे–' रखा जाय। प्रामाणिक हिन्दी कोश में भी यही ढंग रखा गया है; और मेरी समझ में यही ढंग आगे भी चलाना

ठीक होगा। जहाँ तक हो सके, प्रामाणिक ग्रन्थों के ही उदाहरण दिये जाने चाहिएँ। जो शब्द या अर्थ बहुत अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध न हों, अथवा जिनके सम्बन्ध में किसी को आपत्ति या आशंका हो सकती हो, उन्हीं से सम्बद्ध उदाहरण होने चाहिएँ और वे भी २-३ से अधिक नहीं। उदाहरणों में केवल काम का अंश, चरण, पद या वाक्य होना चाहिए। हिन्दी शब्द-सागर में कहीं-कहीं बहुत ही प्रसिद्ध संज्ञावाचक शब्दों के साथ ५-६ तक उदाहरण दिये गये हैं। कहीं-कहीं तो एक शब्द या मुहावरे के उदाहरण के लिए बहुत बड़े-बड़े पूरे कवित्त या पद दे दिये गये हैं। उसमें 'बचन' के अन्तर्गत 'वचन' के सब अर्थ तो आये ही हैं, साथ में पाँच उदाहरण भी हैं। अर्थ 'बला' और 'बलाय' दोनों में हैं, और उनके भिन्न-भिन्न अर्थों के साथ दस उदाहरण भी। 'बार-बधू' में तीन उदाहरण और 'बघंबर' में सात पंक्तियों के दो उदाहरण हैं। 'बकसना' और 'बख्शना' में समान अर्थों के सिवा दो बड़े-बड़े उदाहरण भी हैं। इससे व्यर्थ का विस्तार तो होता ही है, जिज्ञासु के सिर व्यर्थ का एक भार भी हो जाता है। सारांश यह कि कोश का सारा निरूपण, विवेचन और स्वरूप बहुत ही व्यवस्थित और सन्तुलित होना चाहिए; और ऐसी व्यापक दृष्टि से होना चाहिए कि कृति कहीं से अधूरी, खण्डित या भद्दी न जान पड़े। कोश सब अंगों से युक्त होना चाहिए और उसके सब अंग साँचे में ढले हुए, एक-से और सुन्दर जान पड़ने चाहिएँ।

२

कोशकार के गुण

'कोश' शब्द स्वयं अपनी महत्ता का परिचायक है। जिसमें या जहाँ सभी तरह की एक-से-एक अच्छी चीजें या बातें, और वह भी बहुत अधिक मात्रा या मान में और आकर्षक तथा व्यवस्थित रूप में संगृहीत हों, वही कोश है। ढूँढ़नेवाले को उसमें सब कुछ मिलना चाहिए और कुछ निश्चित नियमों के अनुसार जल्दी और सुभीते से मिलना चाहिए। शायद यही सोचकर संस्कृत के एक प्रसिद्ध कोश का नाम रखा गया था—'शब्द कल्पद्रुम' अर्थात् शब्दों के सम्बन्ध में सब प्रकार की आवश्यकताएँ या जिज्ञासाएँ पूरी करनेवाला कोश। वह विपुल भी होना चाहिए और अपार भी; और यही सोचकर हिन्दी के सबसे बड़े और प्रसिद्ध कोश का नाम रखा गया था—'शब्द-सागर'। अच्छे कोश में कल्प-तरु के भी गुण होने चाहिएँ और सागर की विशेषताएँ भी। फिर जो अच्छा कोश तैयार करने बैठे, उसके गुणों और योग्यताओं का तो पूछना ही क्या है!

फिर भी शब्द-कोश अच्छे-बुरे सभी तरह के होते हैं और सभी तरह के लोग कोश-सम्पादन के कार्य में प्रवृत्त होते हैं। साधारणतः सब लोगों में उतनी अधिक अपेक्षित योग्यता न होने पर भी थोड़ी-बहुत योग्यता तो होती ही है। जिसमें जैसी योग्यता होती है, वह वैसा ही कोश तैयार करता है। पर कोई काम अच्छी तरह करने के लिए कुछ विशिष्ट प्रकार के ज्ञान, कौशल

और दक्षता की आवश्यकता होती ही है। यहाँ हम संक्षेप में यह बतलाना चाहते हैं कि साधारणतः एक अच्छा कोश तैयार करने के लिए कोशकार में क्या क्या गुण होने चाहिएँ और उसे किन-किन बातों का ज्ञान होना चाहिए।

कोश-रचना के समय अच्छे कोशकार को बहुत-सी बातों का ध्यान रखना पड़ता है। उसे सब ओर व्यापक दृष्टि रखनी पड़ती है और बहुत-सी बातों की जानकारी के लिए बहुत-कुछ छान-बीन करनी पड़ती है। उसे मधुकर-वृत्ति धारण करनी पड़ती है और सभी तरह के फूलों से रस लेना पड़ता है—सभी जगहों से काम की बातें चुनकर उन्हें सुन्दर और मधुर रूप देना पड़ता है। उसे अनेक भाषाओं का तो ज्ञान रखना पड़ता ही है; उनके शब्दों के रूपों और बनावट का भी अर्थात् भाषाओं की भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का भी ज्ञान और ध्यान रखना पड़ता है। अच्छा कोशकार कोई शब्द देखते ही प्रायः तुरन्त समझ लेता है कि यह किस भाषा या बोली का अथवा किस प्रान्त या क्षेत्र का शब्द है अथवा हो सकता है। उसे सोचना पड़ता है कि यह शब्द कहाँ से आया होगा और इसकी निरुक्ति क्या है या हो सकती है। यदि उसे शब्द का ठीक अर्थ या विवेचन ढूँढ़ना पड़े, तो सहज में ही उसकी समझ में आ जाना चाहिए कि इसका अर्थ, प्रयोग या विवेचन अमुक कोश, ग्रन्थ, प्रसंग या स्थान में मिलेगा। और ऐसा ज्ञान साहित्य के विस्तृत तथा व्यापक अध्ययन से ही प्राप्त हो सकता है। इस अध्ययन के साथ ही कोशकार की धारणा-शक्ति भी यथेष्ट प्रबल होनी चाहिए। कोई प्रसंग सामने आते ही उससे सम्बद्ध दूसरा प्रसंग तुरन्त उसके ध्यान में आ जाना चाहिए। उसमें सूक्ष्म विवेचन की भी प्रबल शक्ति होनी चाहिए, जिससे वह जरा-सा सूत्र मिलते ही बात की तह तक पहुँच सके और प्रयोगों तथा अर्थों

का ठीक-ठीक अन्तर या आशय समझकर उनका उपयुक्त वर्गीकरण या विभाजन कर सके। और ऐसे अन्तर या आशय समझ लेने पर इन्हें उपयुक्त रूप से व्यक्त करने और व्यवस्थित रूप से सजाकर कोश में स्थान देने की भी शक्ति होनी चाहिए।

अच्छा कोशकार वही हो सकता है जो अच्छा आलोचक भी हो। आलोचक से हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि वह ग्रन्थों की उस प्रकार की समालोचना करनेवाला हो, जैसी सामयिक पत्रों में प्रकाशित होती है। हमारा अभिप्राय केवल यह है कि उसे गुण-दोषों का अच्छा पारखी होना चाहिए। उसमें हंस का-सा नीर-क्षीरवाला विवेक होना चाहिए। जहाँ उसे कोई त्रुटि या दोष दिखाई पड़े, वहीं उसे समझकर ठीक करना उसका कर्त्तव्य होता है। दूसरे कोशों, टीकाओं आदि की भूलें सुधारने के सिवा, उसे अपनी भूलों पर भी ध्यान देना और उनके सुधार के लिए भी सदा तैयार रहना पड़ता है। विशुद्ध सेवा-भाव से काम करनेवाला कोशकार राग-द्वेष आदि से दूर रहकर अपना भण्डार भरता चलता है। वह अपनी भूलें भी उसी प्रकार निःसंकोच होकर सुधारता है, जिस प्रकार औरों की। वह कटु आलोचनाओं या अप्रिय टीका-टिप्पणियों से कभी घबराता नहीं, बल्कि उनका स्वागत करता है। कटु आलोचना में भी जहाँ उसे कोई अच्छी, ठीक या नई बात सुझाई जाती है, वहाँ उससे वह पूरा लाभ उठाता है।

अच्छा कोशकार दूसरों से कोई बात पूछने या समझने में कभी लज्जा या संकोच नहीं करता। जो बात वह स्वयं न जानता हो, वह दूसरों से जानने का प्रयत्न करता है। पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में तो वह प्रायः ऐसा करने के लिए विवश-सा होता है; और उसे विशेषज्ञों की शरण लेनी पड़ती है। पर दूसरों से पूछकर एकत्र की हुई जानकारी भी वह ऐसे अच्छे ढंग से और ऐसे

सुडौल रूप में दूसरों के सामने रखता है कि उस विषय के जान-कारों को भी उसकी प्रशंसा करनी पड़ती है। वह दुरूह को सुबोध और सदोष को निर्दोष बनाता है; और कहीं से कोई उपयुक्त तथ्य या पूरी जानकारी मिलने पर, वह उसे अपने साँचे में ढालकर और बहुत ही सुन्दर नया रूप देकर लोगों के सामने उपस्थित करता है। शब्दों के अर्थ या व्याख्याएँ देने के समय वह इस बात का ध्यान रखता है कि कहीं अव्याप्ति या अतिव्याप्ति का दोष न आने पावे और जिज्ञासु को कोई धोखा या भ्रम न हो। उसे जिज्ञासु की तुष्टि का पूरा ध्यान रखना पड़ता है और अपने क्षेत्र तथा विस्तार का ध्यान रखते हुए, थोड़े में बहुत-सी बातों की जानकारी करानी पड़ती है। और इन सब बातों के लिए उसमें प्रबल अभिव्यंजन शक्ति होनी चाहिए और भाषा पर उसका पूरा और निर्भ्रान्त अधिकार होना चाहिए।

अच्छे कोशकार को एक और बात का ध्यान रखना पड़ता है। उसे अपनी कृति में आदि से अन्त तक प्रायः सभी प्रकार की बातों में एक-रूपता रखनी पड़ती है। उसे ध्यान रखना पड़ता है कि कोई अंग या पक्ष आवश्यकता से अधिक बड़ा न होने पावे और न वह कहीं से क्षीण या हीन ही जान पड़े। वह अपने विवेचन में उपयोगिता, शुद्धता, सुबोधता आदि का पूरा ध्यान रखता है। यदि किसी अवसर पर वह ऐसा करने में पूर्ण रूप से सफल या समर्थ न हो, तो भी वह निराश होकर उसे सदा के लिए छोड़ नहीं देता, बल्कि उसे अपनी विचारणीय मद में स्थान देकर फिर किसी अवसर पर उसे ठीक करने का प्रयत्न करता है और अन्त में ठीक करके ही छोड़ता है।

अच्छे कोशकार को अनेक भाषाओं और अनेक विषयों की पूरी नहीं तो बहुत कुछ जानकारी अवश्य रखनी पड़ती है। उसकी यह जानकारी जितनी ही अधिक होती है, वह अपने

काम में उतना ही अधिक सफल होता है। उसे व्याकरण, भाषा-विज्ञान और साहित्य के सभी अंगों-उपांगों से भी और भाषाओं के इतिहास, परम्पराओं तथा प्रवृत्तियों से भी पूर्ण परिचित होना पड़ता है। और सबसे बढ़कर उसे भिन्न-भिन्न भाषाओं के अच्छे कोशों का अच्छी तरह अध्ययन और मनन करना, उनके गुण-दोषों का विवेचन करना और उनकी विशिष्टता, सुन्दरता आदि से परिचित होकर उनका उपादेय तत्त्व ग्रहण करना पड़ता है। सारांश यह कि उसका बहुज्ञ, बहुदर्शी, बहुश्रुत तथा परम अध्ययनशील होना आवश्यक है।

शब्द-कोश में संसार भर के विषयों के शब्द आते हैं। कोई विज्ञान या कोई व्यवसाय ऐसा नहीं है, जिसके कुछ निजी पारिभाषिक शब्द न हों। और यदि वे सभी शब्द नहीं तो उनमें से बहुत से शब्द तो प्रायः छोटे-बड़े सभी प्रकार के कोशों में आ जाते हैं। कोश का विस्तार ऐसे शब्दों के संग्रह पर ही आश्रित है। जो कोश जितना ही अधिक बड़ा और विस्तृत होगा, उसमें उतने ही अधिक प्रकार के और उतने ही अधिक शब्द और उनके उतने ही अधिक अर्थ तथा विस्तृत व्याख्याएँ और विवरण आवेंगे। और ऐसे शब्दों का तब तक ठीक और पूरा विवेचन नहीं हो सकता, जब तक कोशकार को उस विषय का अच्छा ज्ञान या परिचय न हो। अतः अच्छे कोशकार के लिए सभी विषयों का कुछ-न-कुछ ज्ञान रखना आवश्यक होता है। ऐसे ज्ञान के सहारे वह दूसरे कोशों या ग्रन्थों की जटिल या दुरूह बातें समझकर उनका अच्छा और पूरा उपयोग करता और उनमें से अपने काम की बातें निकालता है। यह ठीक है कि एक मनुष्य संसार भर के सब विषयों का ज्ञाता नहीं हो सकता। और इसी लिए बहुत बड़े-बड़े कोश तैयार करने-कराने के समय अनेक विषयों के विद्वानों और विशेषज्ञों का संघटन करना पड़ता

है। पर ऐसे कोशों का भी प्रधान सम्पादक वही होता है, जो प्रायः सभी विषयों की अच्छी और अधिक से अधिक जानकारी रखता है। उक्त प्रकार की योग्यता या विशेषता ऐसे ही व्यक्ति में आती है, जो अपना सर्वस्व इस प्रकार के सेवा-कार्य के लिए अर्पित कर देता, अपनी सारी शक्ति उसमें लगा देता और अपना सारा जीवन उसी में बिता देता है। छोटे विस्तारवाले कोश के सम्पादक समय-समय पर ऐसे विद्वानों या विशेषज्ञों से भी पूछकर अपना काम चला सकते हैं। दूसरों से पूछने में कोश-सम्पादक को कभी लज्जा या संकोच नहीं होना चाहिए।

आज-कल बहुत-से अँगरेजी शब्दों के पर्याय बनने लगे हैं। किसी अँगरेजी शब्द का कलकत्ते में एक पर्याय बनता है, तो पटने में दूसरा, काशी में तीसरा और प्रयाग में चौथा। फिर हिन्दी में ही नहीं, गुजराती, बँगला, मराठी आदि में भी उन शब्दों के कुछ दूसरे पर्याय बनते हैं। हिन्दीवाले किसी अँगरेजी शब्द का एक पर्याय स्थिर करते हैं, बँगलावाले दूसरा और मराठीवाले तीसरा। कोशकार को ऐसे सब शब्द इकट्ठे करके उनमें से ऐसा पर्याय चुनना चाहिए जो मूल का भाव ठीक-ठीक अभिव्यक्त करने के अतिरिक्त बोल-चाल के लिए सहज भी हो और देखने में सुन्दर भी। प्रायः सामने आनेवाले पर्यायों में से कुछ ठीक भी होते हैं और कुछ गलत भी। कोशकार को गलत पर्यायों का परित्याग करके ठीक पर्याय ग्रहण करने पड़ते हैं। यदि पहले से कुछ गलत पर्याय चले आ रहे हों और वे बदले जा सकते हों तो अच्छा कोशकार अपने कोश के द्वारा गलत पर्याय हटाकर ठीक पर्याय चलाने में भी बहुत-कुछ सहायक हो सकता है। दूसरे कोशों में एक शब्द के जो अनेक पर्याय दिये होते हैं, उनमें से कोशकार अपने लिए वही पर्याय चुनता है, जो साहित्यिक कार्यों के लिए सबसे अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता

हो। मान लीजिए कि आप कोई ऐसा कोश देख रहे हैं जिसमें अँगरेजी शब्दों के अर्थ संस्कृत में अथवा संस्कृत शब्दों के अर्थ अँगरेजी में दिये हैं। स्वभावतः उसमें उसके बहुत-से अर्थ और प्रत्येक अर्थ के साथ कई पर्याय मिलेंगे। अब आपकी दृष्टि इतनी पैनी होनी चाहिए कि आप वे सब अर्थ या पर्याय देखकर उनमें से तुरन्त अपने काम का अर्थ या पर्याय चुन लें। इसी प्रसंग में यदि आप ठीक और पूरा ध्यान रखें तो आपको अनेक शब्दों और पर्यायों के सूक्ष्म अन्तर या भेद भी सहज में विदित हो सकेंगे, और उनका उपयोग आप दूसरे क्षेत्रों में कर सकेंगे। यदि वैयक्तिक चर्चा अक्षम्य न समझी जाय तो एक दो उदाहरण दे दूँ। हिन्दी में पर्याय का विरोधी भाव अर्थात् Antonym का भाव सूचित करने के लिए मैंने पहले 'विरुद्धार्थक' शब्द चुना था, पर बाद में 'पर्याय' के साथ उसकी सम-रूपता रखने के लिए 'विपर्याय' रखना स्थिर किया था। राजकीय शब्द-कोश[1] बनाते समय अँगरेजी के 'प्राइज' और 'रिवार्ड' दोनों के लिए 'पारितोषिक' शब्द रखना स्थिर हुआ था; और प्रामाणिक हिन्दी कोश के पहले और दूसरे संस्करणों में ये दोनों शब्द इसी रूप में ले लिये गये थे। पर उक्त प्रकार के एक अवसर पर एक संस्कृत-अँगरेजी कोश देखते समय मेरे ध्यान में यह बात आई कि क्यों न 'प्राइज' के लिए 'पुरस्कार' और 'रिवार्ड' के लिए

१—उत्तर प्रदेश की सरकार के प्रतिनिधि सिविल जज श्री गोपाल चन्द्र सिंह के साथ मैंने नागरी-प्रचारिणी सभा के लिए ५—६ वर्ष पहले एक राजकीय कोश बनाया था, जिसकी पूरी हस्त-लिखित प्रति प्रेस में भेज दी गई थी और जिसके ५—६ फर्मे छप भी गये थे; पर जो कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में व्यक्ति-गत राग-द्वेष की वेदी पर बलि चढ़ा दिया गया था!

'पारितोषिक' शब्द रखा जाय ? आखिर दोनों अलग-अलग शब्द तो हैं ही; और दोनों के भाव भी एक दुसरे से कुछ भिन्न हैं। अतः प्रामाणिक कोश के तीसरे संस्करण के लिए मैंने इसी के अनुसार परिवर्त्तन और संशोधन किया। 'अच्छी हिन्दी' में मैंने अँगरेजी के ऐसे अनेक शब्द-युग्म दिये हैं, जिनके स्थान पर हिन्दी में अलग-अलग शब्दों की आवश्यकता है। फिर कुछ नये शब्द ऐसे भी बनने लगे हैं, जो अर्थ, प्रयोग आदि के विचार से उपयुक्त नहीं होते, परन्तु लोक में जैसे-तैसे उनका प्रचलन हो ही जाता है। उदाहरण के लिए अँगरेजी का 'एक्सप्लॉयटेशन' (Exploitation) शब्द है, जिसके स्थान पर हिन्दी में 'शोषण' शब्द चल पड़ा है। एक विशिष्ट क्षेत्र और प्रसंग में तो 'शोषण' ठीक माना जा सकता है, पर कुछ दूसरे क्षेत्रों या प्रसंगों में 'शोषण' ठीक नहीं बैठता। किसी देश के आर्थिक या प्राकृतिक साधनों का भी 'एक्सप्लॉएटेशन' होता है और किसी के नाम, परिश्रम, यश आदि का भी। उस दशा में 'शोषण' का प्रयोग संगत नहीं जान पड़ता। 'प्रतिशब्द' वस्तुतः है तो प्रतिध्वनि का पर्याय, पर अब वह स्वयं 'पर्याय' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। ऐसी प्रवृत्तियाँ रोकी जानी चाहिएँ। इस प्रकार की शब्द-सम्बन्धी हमारी और भी कई आवश्यकताएँ तथा त्रुटियाँ हैं; और अच्छे कोशकार इनकी पूर्त्ति में बहुत कुछ सहायक हो सकते हैं। वे अच्छे, उपयुक्त और नये शब्द ढूँढ़कर भी, और यदि कहीं आवश्यकता हो तो नये शब्द गढ़कर भी लोगों के सामने रख सकते हैं; और इस प्रकार साहित्य का कहुत बड़ा उपकार कर सकते हैं।

आज-कल हिन्दी में शब्द-कोशों की बाढ़ देखकर कुछ लोग यह समझने लगे हैं कि कोश-सम्पादन के लिए किसी प्रकार की उद्भावना, प्रतिभा या मौलिकता की आवश्यकता नहीं होती। दूसरों के संगृहीत शब्द और दूसरों के बतलाये हुए

अर्थ जैसे-तैसे एक जगह इकट्ठे कर देना ही कोशकार का काम समझा जाने लगा है। पर ऐसी धारणा बहुत ही भ्रामक है, और इससे कोशों का स्तर ऊपर उठने में बहुत बाधा हो रही है। कोश-सम्पादन के कार्य में भी विद्या के साथ-साथ उद्भावना और प्रतिभा की आवश्यकता होती है; और इन्हीं बातों के द्वारा कोशकार की मौलिकता लोगों के सामने आती है। अच्छा कोशकार बराबर नये नये शब्द, अर्थ, प्रयोग, मुहावरे आदि ढूँढ़ता रहता है; और शब्द-भेद के नये सूक्ष्म अन्तरों पर पूरा ध्यान रखकर नये ढंग से उनका विवेचन करता है। जहाँ तक हो सकता है, वह हर शब्द के अर्थ बतलाने में कोई नई बात पैदा करके दिखलाता है। या तो वह पुराने अर्थों की गड़बड़ी और भ्रामकता दूर करके उन्हें स्पष्ट करता है या उनमें ढूँढ़-ढूँढ़कर अर्थ-गत नवीनता लाता है। वह ऐसी नई, विशुद्ध, व्यापक और स्पष्ट व्याख्याएँ सामने रखता है, जो जिज्ञासु को कुछ नया ज्ञान देती हैं अथवा उसके पुराने ज्ञान में कुछ वृद्धि करती हैं। अच्छे कोशकार को सदा इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि शब्द-कोशों का उपयोग लोग अपनी जिज्ञासा पूरी करने के लिए ही करते हैं। और जिस शब्द-कोश से जितने ही अधिक लोगों की जिज्ञासा तृप्त हो अथवा जितनी ही अधिक ज्ञान-वृद्धि हो, वह शब्द-कोश उतना ही अच्छा समझा जाता

अच्छा कोशकार व्याकरण की जटिलताओं से अलग रहकर भी व्याकरण की बहुत-सी गुत्थियाँ सहज में सुलझाता और भाषा का मानक तथा सुन्दर रूप स्थिर करने में सहायक होता है। ऐसे ही कोशकारों के कोशों की आयु भी अधिक होती है और उनसे साहित्य की श्री-वृद्धि भी होती है। आर्थिक लाभ की बात हम इसलिए नहीं कहते कि सरस्वती के सच्चे उपासक और विशुद्ध साहित्य-सेवी उसकी परवाह नहीं करते।

३

शब्द-संग्रह

कोशकार के लिए शब्द-संग्रह का काम बहुत महत्त्व का है। साधारणतः कोशों के लिए यह काम प्रायः एक ही तरह से चलाया जाता है। कोई बड़ा कोश उठा लिया या दो-चार छोटे-मोटे कोश सामने रख लिये; और एक कोश तैयार हो गया। पर यह ढंग तो मृत भाषाओं के कोश तैयार करने के लिए ही उपयुक्त हो सकता है, जीवित और प्रचलित भाषाओं के लिए नहीं। जीवित और लोक-व्यवहार की भाषा में नित्य नये शब्द बनते रहते हैं और नित्य नया साहित्य प्रकाशित होता रहता है। पुराने कोशों से शब्द-संग्रह करनेवाले कोशकार उन नये शब्दों तक पहुँच ही नहीं पाते। अच्छे कोशकारों को नित्य नये बनने-और मिलनेवाले शब्दों का बहुत ही परिश्रमपूर्वक, विधिवत् और व्यवस्थित रूप से शब्द-संग्रह करना पड़ता है। यदि इस कार्य की ओर प्रवृत्ति और रुचि हो तो नित्य बहुत-से नये शब्द और नये साधन मिल सकते हैं। मान लीजिए कि आप किसी से बातें कर रहे हैं, कोई कथा, भाषण या रेडियो की वार्त्ता सुन रहे हैं, सामाचार-पत्र या पुस्तक पढ़ रहे हैं या इसी प्रकार का और कोई कार्य कर रहे हैं। यदि आपका ध्यान शब्द-संग्रह की ओर हो तो हर जगह आपको कुछ-न-कुछ नये शब्द मिल जायँगे।

जिस समय हिन्दी शब्द-सागर के लिए शब्द-संग्रह हुआ था (सन् १९१०-१२), उस समय हिन्दी का प्रकाशित साहित्य बहुत परिमित था। बहुत ही थोड़े विषयों पर बहुत ही थोड़े ग्रन्थ थे। हिन्दी का प्राचीन काव्य-साहित्य भी बहुत ही कम प्रकाशित हुआ था; और जो कुछ प्रकाशित भी हुआ था, वह सुसम्पादित नहीं था। उदाहरण के लिए सूर-सागर ही लीजिए। उस समय हम लोगों के सामने उसके दो संस्करण थे—एक वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बईवाला और दूसरा नवलकिशोर प्रेस लखनऊ वाला। यदि पाठकों को कहीं वे संस्करण मिल सकें तो वे देखेंगे कि उनकी छपाई, अक्षरी आदि कैसी अद्भुत है! उनमें शब्दों के बीच में अवकाश या स्थान देने की परिपाटी प्रायः नहीं के समान थी। आठ-आठ और दस-दस शब्द और यहाँ तक कि पूरे चरण और पूरी पंक्तियाँ तक एक साथ छपी हुई मिलती थीं। और शब्दों के रूपों का तो कहना ही क्या! जो प्रति प्रकाशक के हाथ लग गई, वह ज्यों की त्यों छाप दी गई। न कुछ सोचने से मतलब, न समझने से। उनसे न तो शब्दों के शुद्ध रूप का ही पता चलता था, न अर्थ का। बहुत-कुछ यही दशा अन्य अनेक प्राचीन कवियों की कृतियों की भी थी। पर तब से अब तक बहुत-से प्राचीन ग्रन्थों के अच्छे और सु-सम्पादित संस्करण निकल गये हैं; और बहुत से नये-नये ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं, जिनमें से कुछ के साथ अच्छी टीकाएँ अथवा कठिन शब्दों के अर्थ भी हैं। कुछ शब्दों के अन्त में उपयुक्त शब्दावलियाँ भी लगी हैं। अनेक नये अच्छे-अच्छे कवि तथा लेखक उत्पन्न हुए हैं, जिनके ग्रन्थों में सैकड़ों-हजारों नये शब्द, अर्थ, प्रयोग और मुहावरे आये हैं। अनेक वैज्ञानिक विषयों पर भी अब बहुत-से ग्रन्थ हिन्दी में हो गये हैं; यथा—अर्थ शास्त्र, खनिज शास्त्र, गणित, चिकित्सा शास्त्र, ज्यौतिष, दर्शन, भाषा-विज्ञान, महाजनी बही-खाता, राजनीति

आदि। नित्य सामयिक पत्रों में नये-नये विषयों पर लेख निकलते रहते हैं। और ये सभी अच्छे कोशकार के लिए नये-नये शब्द ढूँढ़ निकालने के लिए बहुत ही उपयुक्त क्षेत्र सिद्ध हो सकते हैं।

यह ठीक है कि हिन्दी शब्द-सागर के लिए शब्द-संग्रह का काम कुछ निश्चित नियमों के अनुसार और एक व्यवस्थित शैली से हुआ था; पर आगे चलकर वह कई कारणों से बहुत-कुछ सदोष और त्रुटिपूर्ण सिद्ध हुआ। पहली बात तो यह थी कि वह बिलकुल नया और पहला काम था—किसी को पहले से उसका कोई अनुभव नहीं था। दूसरी बात यह थी कि शब्द-संग्रह के काम में सम्पादकों के अतिरिक्त और भी १०-१२ आदमी लगा दिये गये थे, जिनमें से अधिकतर का साहित्यिक ज्ञान बहुत ही अल्प था। जिन शब्दों के ठीक रूप या अर्थ उनकी समझ में नहीं आते थे, उन्हें वे लोग छोड़ दिया करते थे। विशिष्ट प्रयोगों और मुहावरों आदि के रूप भी वे लोग परख नहीं सकते थे। इसलिए बहुत-सी आवश्यक और उपयोगी बातें छूट गई थीं। कोश का सम्पादन करते समय सम्पादक लोग पग पग पर इस प्रकार की त्रुटियों का अनुभव करते थे; और जहाँ तक हो सकता था, उनकी पूर्त्ति का प्रयत्न करते थे। पर उसी समय मेरी यह दृढ़ धारणा हो गई थी कि कोश के लिए शब्द-संग्रह का काम भी कोश-सम्पादन से कम महत्त्व का नहीं है; और अच्छा शब्द-संग्रह वही कर सकता है, जिसे साहित्य का अच्छा ज्ञान होने के अतिरिक्त भाषा की प्रकृति का भी अच्छा परिचय हो और जो यह भी समझता हो कि एक अच्छे कोश का स्वरूप कैसा होना चाहिए—उसमें किस तरह की और किन किन बातों का होना आवश्यक है।

ग्रन्थों से शब्द-संग्रह करते समय कोशकार को यह देखना

पड़ता है कि कहाँ कौन-सा नया शब्द आया है; अथवा वह किस नये अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उसे यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि इसके साथ कोई नया प्रयोग या मुहावरा तो नहीं लगा है। हिन्दी शब्द-सागर में 'छिया छरद करना' मुहावरा तो आया है, जिसका प्रयोग सूर ने किया है; और यह मुहावरा 'छिया' शब्द के अंतर्गत दिया गया है। पर इसमें का 'छरद' शब्द उसमें अपने स्थान पर नहीं आया है, जो वस्तुतः आना चाहिए था। यह शब्द सं० 'छर्दि' से बना है और इसका अर्थ वमन या कै है। कोशकार को शब्द-संग्रह करते समय यदि कहीं निसवादिल (निःस्वादी) शब्द मिले, तो उसके साथ-साथ उसे 'सवादिल' भी अवश्य लेना चाहिए। तात्पर्य यह कि जब जहाँ उसे कोई नया तत्त्व दिखाई दे, तब उसे अच्छी तरह देख और समझ-बूझकर अपने काम के लिए उसे उसका उपयोग करना चाहिए।

शब्द-सागर का सम्पादन करने के समय अपने अनुभव के कारण सम्पादकों ने यह सिद्धान्त बना रखा था कि कोई शब्द सामने आने पर साधारण समझकर अथवा यह समझकर कि इसे तो हम पहले ले चुके हैं, छोड़ नहीं दिया जाना चाहिए। जहाँ तनिक भी सन्देह या नये अर्थ की सम्भावना जान पड़े, वहाँ मूल से मिलान करके अच्छी तरह देख लेना चाहिए और यह निश्चित कर लेना चाहिए कि वह किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मूल पाठ देखने का मेरा यह अभ्यास प्रामाणिक हिन्दी कोश की रचना में मेरा बहुत अधिक सहायक हो रहा है। इसके फल-स्वरूप मुझे अनेक शब्दों के कभी कभी बिलकुल नये या विलक्षण अर्थ या मुहावरे और अकर्मक क्रिया के सकर्मक अथवा सकर्मक क्रिया के अकर्मक प्रयोग अथवा ऐसे ही कुछ और तत्त्व मिल जाते हैं; और शब्द-सागर के समय तक जो काम हुआ था, उसे आगे बढ़ाने का अच्छा अवसर मिलता है।

प्रामाणिक हिन्दी कोश का काम करते समय मुझे कबीर, सूर, तुलसी, मीराँ, केशव, पद्माकर आदि प्राचीन कवियों द्वारा प्रयुक्त ऐसे बहुत-से नये शब्द, प्रयोग और मुहावरे[1] मिलते रहते

---

१. उदाहरणार्थ :—

ंग करना—जाकौं मन-मोहन अंग करै। —सूर।

गात गारना—आछौ गात अकारथ गार्यौ। —सूर।

गिरा नचाना—जो करि-वर-मुख मूक ही गिरा नचाव सुखेन।
—दीनदयाल।

गोटी लाल करना—पर्यौ दाँव तेरो खरो, करि लै सारी लाल।
—दीनदयाल।

चिठ्ठी पर चढ़ाना—हौं तिहिं चिठि न चढ़ायौ। —सूर।

जीभ लड़ाना—सुआ पढ़ावत जीभ लड़ावति...। —सूर।

ढोल बजाना—मीराँ कहै मैं भई बावरी, कहौ तो बजाऊँ ढोल।
—मीराँ।

ताल पूरना—इसु मन आगै पूरै ताल। —कबीर।

दाँव देना—या काहू दिन दैहैं दाँव। —सूर।

पट्टे लिखाना—नादी बेदी सबदी मोनी जम कै पटे लिखाइआ।
—कबीर।

पलक ढकना—ढके पलक के खलक रूप ह्वैहैं सब सपने।
—दीनदयाल।

पूर देना—अजहुँ पूर पिय देहु। —तुलसी।

पैज सरना—······वाको पैज सरै। —सूर।

बाना बाँधना—याको नहिं भूलि कहूँ बाँधियत बानो है। —ठाकुर।

बैरख बाँधना—अपने नाम की बैरख बाँधौ······। —सूर।

बैर चितारना—पपैया प्यारे, कब कौ बैर चितार्यौ। —मीराँ।

बैल पर चढ़ना—मित्रहु तुम्हरे संग चढ़ैं वृष दारुन ग्रीषम।
—दीनदयाल।

हैं, जो अब तक हिन्दी के किसी कोश में नहीं आये हैं। सैकड़ों प्राचीन सन्त कवियों की रचनाओं में भी हजारों नये शब्द और पुराने शब्दों के नये अर्थ भरे पड़े हैं। ज्यों-ज्यों प्राचीन कवियों की रचनाओं के नये और अच्छे संस्करण प्रकाशित होते चलेंगे, और उनकी छान-बीन होती चलेगी, त्यों-त्यों ऐसे नये शब्द और अर्थ अधिकाधिक संख्या में मिलते चलेंगे। इधर हाल में मैथिलीशरण गुप्त, पन्त, निराला, दिनकर, महादेवी वर्मा आदि की जो नई रचनाएँ निकली हैं, उनमें भी ढूँढ़ने पर बहुत-से नये शब्द मिलते हैं, जिनमें अधिकतर संस्कृत के और कुछ हिन्दी के स्थानिक शब्द भी होते हैं। पर ऐसे शब्दों की ओर अब तक किसी कोशकार का ध्यान नहीं गया है। शब्द-संग्रह-सम्बन्धी पुराने अनुभव के आधार पर कोशों की इस त्रुटि की थोड़ी-बहुत पूर्त्ति प्रामाणिक हिन्दी कोश में की जा रही है।

बहुत दिन पहले हिन्दी शब्द-सागर का सम्पादन करते समय 'फरहंग आसफिया' नामक बृहत् उर्दू कोश में प्राचीन उर्दू कवियों की रचनाओं में मुझे ऐसे बहुत-से शब्द मिलते थे, जो थे तो ठेठ हिन्दी के, पर जिनका हम हिन्दीवालों को पता ही नहीं था। इसके बाद जब 'नूर-उल्-लुगात' नामक दूसरा बड़ा उर्दू कोश प्रकाशित हुआ, तब उसमें दिये गये उदाहरणों में इस प्रकार के और भी हजारों नये शब्द देखने में आये। फिर डा० मोतीचन्द जी से सुना कि दक्षिण भारत और विशेषतः हैदराबाद राज्य के अनेक स्थानों में प्राचीन उर्दू कवियों के ऐसे बहुत-से ग्रन्थ हैं, जिनमें ठेठ हिन्दी के बहुत-से शब्द भरे पड़े हैं। आगे चलकर उर्दू कवि जब 'फसाहत' और भेद-नीति के चक्कर में पड़े, तब वे ढूँढ़-ढूँढ़कर ठेठ हिन्दी शब्दों का बहिष्कार करने लगे और उनका

साखा बरनना या भाखना—भाखत साखा रावरी। —दीनदयाल।
आदि आदि।

स्थान अरबी-फारसी के शब्दों को देने लगे। यदि पुराने उर्दू कवियों की कृतियों में से ऐसे मृत-प्राय शब्दों का उद्धार किया जा सके तो हिन्दी का बहुत उपकार हो सकता है। हम ऐसे शब्दों में से बहुत-से उपयोगी और भाव-व्यंजक शब्द चुनकर अपना शब्द-भण्डार बहुत सम्पन्न कर सकते और भाव-व्यंजन की शक्ति बहुत बढ़ा सकते हैं। ऐसे शब्दों से हमारा दूसरा बहुत बड़ा लाभ यह हो सकता है कि हम प्राचीन हिन्दी कवियों की रचनाओं का आशय समझने में अधिक समर्थ हो सकते हैं। आज-कल प्राचीन हिन्दी काव्यों में बहुत-से ऐसे शब्द मिलते हैं, जिनका ठीक अर्थ नहीं खुलता और जिनके लिए सम्पादकों को बहुत-कुछ खींच-तान करनी पड़ती है। मेरा विश्वास है कि ऐसे अनेक शब्दों के ठीक अर्थ समझने में उर्दू के पुराने शायरों की रचनाओं में आये हुए हिन्दी शब्द बहुत-कुछ सहायक हो सकते हैं। उर्दूवालों के लिए तो वे शब्द व्यर्थ हो गये हैं, पर हिन्दीवालों के लिए वे निजी अमूल्य निधि के समान हैं। बुरी तरह से मरते हुए ऐसे शब्दों का उद्धार और रक्षा करना हमारा परम कर्त्तव्य है। अच्छे कोश-कारों का ध्यान इस ओर भी अवश्य जाना चाहिए।

तात्पर्य यह कि यदि नये शब्द और नये अर्थ ढूँढ़ने की लगन हो, तो हर जगह कुछ नई सामग्री मिल सकती है और नये क्षेत्र ढूँढ़कर निकाले जा सकते हैं। पर हाँ, उन्हें ढूँढ़ने, परखने और समझने के लिए तीव्र दृष्टि होनी चाहिए; और होनी चाहिए ऐसी प्रबल स्मरण-शक्ति जिसके द्वारा आप देखते ही यह समझ सकें कि अमुक शब्द अथवा उसका अमुक अर्थ हमारे संग्रह में आया है या नहीं; अथवा वह शब्द या अर्थ और कहाँ कहाँ आया है। इस प्रकार का ध्यान रखने पर कभी कभी कुछ शब्दों के ठीक अर्थ बहुत सहज में निकल आते हैं।

इस म्बन्ध में मैं यहाँ अपने अनुभव की एक-दो बातें बतला

देना चाहता हूँ। सूर-सागर के शब्दों का संग्रह करते समय मुझे उसमें एक जगह 'दगाबाज' के अर्थ में 'दगाई' शब्द मिला। इस अर्थ में यह शब्द मुझे बिलकुल नया जान पड़ा। मैंने समझ लिया कि शब्द सागर में यह शब्द इस अर्थ में नहीं आया होगा। उसे देखने पर मेरी वह धारणा ठीक निकली। उसके बाद हिन्दी के और कई बड़े बड़े कोश देखे, पर किसी में वह शब्द न मिला। मैंने समझ लिया कि यदि शब्द-सागर में यह शब्द आया होता तो अवश्य वह कुछ दूसरे कोशों में भी मिलता[1]। फिर मुझे ध्यान आया कि 'दगाई' शब्द कुछ गीतों में दगा या छल के अर्थ में भी आया है और 'दागने' की क्रिया, भाव और पारिश्रमिक को भी 'दगाई' कहते हैं। तब मैंने यह शब्द उक्त सभी अर्थों के सहित प्रामाणिक कोश के तीसरे संस्करण के लिए लिया। इस प्रकार हजारों नये शब्द मुझे अब तक मिल चुके हैं और दो-चार-दस नये शब्द और नये अर्थ नित्य मिलते रहते हैं।

पुराने और नये सभी प्रकार के लेखक और कवि प्रायः नये शब्द गढ़ा और चलाया करते हैं। पुस्तकों के नाम रखने के लिए

---

१. हिन्दी शब्द-सागर में नरस, प्रणाम, पितलाना, भगवा, मँगरैला, मुक्ति, श्री गणेश, समाई, समोसा, साढ़े, साप्ताहिक सरीखे बहुत-से आवश्यक और उपयोगी शब्द छूट गये थे, जिनमें से कुछ शब्द मैंने बाद में संक्षिप्त शब्द-सागर में बढ़ाये थे। ये पंक्तियाँ लिखते समय जब मैंने हिन्दी के कई बड़े बड़े (लाख, सवा लाख और डेढ़ लाख तक शब्द-संख्यावाले) शब्द-कोश देखे, तो कइयों में इस प्रकार के अनेक शब्द नहीं मिले, और दो बहुत बड़े शब्द-कोशों में तो 'साप्ताहिक' शब्द भी नहीं था! हिन्दी का एक प्रसिद्ध शब्द है 'जिमखाना' जो अँगरेजी कोशों में तो मिल जाता है, पर आज तक हिन्दी के किसी कोश में यह शब्द मेरे देखने में नहीं आया। केवल शब्द-कोशों के आधार पर एक नया कोश बनाने का ऐसा ही शोचनीय परिणाम होता है।

भी पुराने शब्द ढूँढ़ निकाले जाते हैं; जैसे—रश्मि-रथी, साम-धेनी आदि; और नये शब्द भी गढ़े जाते हैं; जैसे—सामयिकी आदि। संस्कृत के शब्द ढूँढ़कर लाये जाते और गद्य तथा पद्य में प्रयुक्त किये जाते हैं। जैसे—आरम्भी, प्रतिवाक्य (उत्तर के अर्थ में) आदि। उनमें से जो अच्छे, चलने योग्य और ठीक शब्द होते हैं, वे तो प्रचलित हो जाते हैं, बाकी शब्द व्यवहार-क्षेत्र में नहीं आने पाते। इस प्रकार के नये और विलक्षण शब्द बहुत सोच-समझकर लिये जाने चाहिएँ। देखना यह चाहिए कि इनमें से कौन-से शब्द आगे चल सकेंगे और कौन से नहीं चलेंगे। उदाहरण के लिए कविवर पन्त के रजत-शिखर की ये पंक्तियाँ देखिए—

(क) अमिट लालसा तृष्णाओं की चल केंचुलियाँ।
रेंगा करतीं गरल मदिर क्षण फन फैलाये॥

(ख) शरत चंदिरा उतर रही धीरे धरती पर।

(ग) निखर उठी नीलिमा नयनिमा-सी अनंत की।

उक्त उदाहरणों में से पहले उदाहरण में 'केंचुली' का प्रयोग साँप के अर्थ में हुआ है। संभवतः कवि को सन्देह था कि केंचुली का साँप के अर्थ में प्रयोग आपत्तिजनक होगा अथवा लोगों की समझ में न आवेगा। इसी लिए उसने अपना भाव स्पष्ट करने के लिए उसके पहले 'चल' विशेषण लगाया है। पर इतने से 'केंचुली' शब्द कभी साँप के अर्थ में नहीं चल सकेगा। स्वयं कवि भी शायद फिर कभी उक्त शब्द का 'साँप' के अर्थ में प्रयोग न करे। अतः इस नये अर्थ में 'केंचुली' शब्द कभी कोशकार के लिए ग्राह्य न होगा। यही बात उनके 'सर्प डहर' वाले प्रयोग के सम्बन्ध में भी है, जिसमें उन्होंने 'सर्प' का प्रयोग विशेषण सर्पिल के रूप में और 'टेढ़ा-मेढ़ा' के अर्थ में किया है। ऐसे अर्थ तो पंत के आलोचक और टीकाकार ही स्पष्ट करेंगे। पर दूसरे उदाहरण में चाँदनी या चंद्रमा के प्रकाश के अर्थ

में 'चंदिरा' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो वस्तुतः 'चंद्रिका' का विकृत रूप है[1]। चंदिरा शब्द का इस अर्थ में कवि भी आगे चलकर प्रयोग कर सकता है; और उसका अनुकरण करने-वाले दूसरे कवि भी यह शब्द इस अर्थ में चला सकते हैं। अतः यह नया शब्द कोशकार के लिए अवश्य ग्राह्य है। कालिमा के अनुकरण पर अब तक लालिमा, हरीतिमा आदि कई असिद्ध शब्द तो पहले से चल ही रहे थे; अब उसी ढंग पर नयन से नयनिमा शब्द बनाया गया है, जो तीसरे उदाहरण में आया है। कोशकार का यह काम नहीं है कि वह इस बात का विचार करने बैठे कि नयनिमा शब्द संस्कृत व्याकरण के अनुसार सिद्ध है या असिद्ध। वह तो यही देखेगा कि यह शब्द साहित्य में चल सकने के योग्य है, इसलिए वह इसे अपने संग्रह में ले लेगा। मैथिलीशरण गुप्त, निराला, दिनकर आदि दूसरे अनेक बड़े कवियों ने भी इस प्रकार के नये शब्दों की सृष्टि और प्रचलन किया है; जैसे—ग्रामिक, यान्त्रिक, फेनिल, स्वर्णिम आदि; और ऐसे शब्द भी उक्त दृष्टि से कोश में ग्राह्य अथवा अग्राह्य होने चाहिएँ। दूसरे शब्द-कोशों से शब्द-संग्रह करते समय भी और कवियों तथा लेखकों द्वारा प्रयुक्त स्थानिक शब्द लेने के समय भी यही मुख्य बात ध्यान में रखनी चाहिए।

शब्द-संग्रह करते समय कोशकार को एक और बात का ध्यान रखना चाहिए। शब्दों के साथ प्रायः पर्याय भी दिये जाते हैं। किसी शब्द के जो पर्याय उसके साथ दिये जायँ, वे सब पर्याय भी कोश में यथा-स्थान अवश्य दिये जाने चाहिएँ। शब्दों की व्याख्या करते समय भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उन व्याख्याओं में जो असाधारण, नये या पारिभाषिक शब्द

१. हमारे यहाँ के प्राचीन कवियों ने इसकी जगह 'चंदिनी' का प्रयोग किया है। यथा—अमल कृस्न कीरति चांदिनी।—घन आनन्द।

आवें, उनके अर्थ या व्याख्याएँ भी कोश में यथा-स्थान अवश्य रहें। प्रामाणिक हिन्दी कोश के तीसरे संस्करण में परिवर्द्धन और संशोधन करने के समय 'टप्पा' नामक गीत के सम्बन्ध में मुझे लिखना पड़ा था कि यह गीत पंजाब के सारबानों से चला था। उसी समय मेरा ध्यान 'सारबान' शब्द की ओर गया, जो प्रामाणिक कोश के पहले संस्करण में नहीं आया था। तब तक दूसरे संस्करण का शेषांश छपने को बाकी था। इसलिए 'सार-बान' शब्द उसी में बढ़ा दिया गया। तात्पर्य यह कि सारे कोश में कहीं कोई ऐसा शब्द नहीं आना चाहिए, जिसका अर्थ या व्याख्या उस कोश में यथा-स्थान न आई हो[१]। एक कोश के किसी शब्द का अर्थ जानने के लिए जिज्ञासु को दूसरे कोश की सहायता लेने की नौबत नहीं आनी चाहिए, भले ही किसी शब्द के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें जानने या कोई सन्देह दूर करने के लिए दूसरे कोशों का सहारा लेना पड़े। सिद्धान्ततः प्रत्येक कोश आतम-पूर्ण होना चाहिए।

प्रत्येक भाषा में दूसरी अनेक भाषाओं के शब्द भी आकर मिल जाते हैं। इनमें से कुछ शब्द तो ऐसे होते हैं, जो उस भाषा के रंग में पूरी तरह से रँगे हुए होते हैं; और कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं, जिन पर परकीयता की छाप लगी ही रहती है। जो शब्द हमारी भाषा में आकर पूरी तरह से घिस-पिस गये हों और हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित होते हों, उन्हें हम अपनी ही भाषा के शब्द मान लेते हैं; और ऐसे ही शब्दों को हमारे शब्द-कोशों में स्थान मिलना चाहिए। अर्थात् शब्द-संग्रह करते समय शब्दों के सम्बन्ध में कसौटी यह होनी चाहिए कि वे सभी तरह के लोगों के द्वारा बोले और समझे जाते हों—वे प्रायः

---

१. किन्तु निरुक्ति या व्युत्पत्ति के प्रसंग में आये हुए शब्द इस नियम के अपवाद भी हो सकते हैं।



[illegible]) में आते रहते हों। इधर कुछ दिनों से विदेशी शासन की कृपा से अरबी, फारसी और अँगरेजी के बहुत-से शब्द हमारे देश में चल पड़े थे; पर उनका प्रयोग थोड़े-से तथा-कथित [illegible] और शिक्षितों तक ही परिमित था। न तो उन शब्दों की जन-साधारण तक पहुँच हुई थी, न उन्हें हमारी भाषा के साहित्य में स्थान मिला था। पर हिन्दी के एक दो कोशों में इस प्रकार के सैकड़ों-हजारों शब्दों को स्थान मिला है। यह बात कई दृष्टियों से ठीक नहीं है। हिन्दी शब्द-सागर में भी इस प्रकार के बहुत-से शब्द लिये गये थे। पर एक तो वे शब्द बहुत ही संकोच से और कुछ असमंजस में पड़कर लिये गये थे; और दूसरे उस समय हम हिन्दीवालों का दृष्टि-कोण भी कुछ भिन्न था। उस समय हम अधिक से अधिक परकीय शब्द आँखें बन्द करके इसलिए अपना लेना चाहते थे कि एक तो हमारा शब्द-भण्डार बढ़े; और दूसरे उर्दू हमारी हिन्दी से कोई भिन्न भाषा न मानी जाय। पर आज हमारा दृष्टि-कोण बदल गया है—नये राष्ट्रीय वातावरण में वह भी बिलकुल नया और राष्ट्रीय हो गया है। अब लोग 'तारीख' लिखना नहीं पसन्द करते, उसका स्थान 'दिनांक' को देना चाहते हैं। इस प्रकार के सैकड़ों-हजारों शब्द हैं। आज नये शब्द ढूँढ़ने के लिए पहले हम अपनी आकर भाषा संस्कृत का आश्रय लेते हैं; और तब अन्य भारतीय भाषाओं और बोलियों से सहायता लेना चाहते हैं। परकीय शब्दों और विदेशी भाषाओं का स्थान इन सबके बाद आता है। अतः नये शब्द-कोशों के लिए शब्द-संग्रह करते समय हमारा दृष्टि-कोण भी नया और अद्यावधिक होना चाहिए। हमें अपनी भावी आवश्यकताओं का तो पूरा ध्यान रखना चाहिए, पर अपने देश और समाज की राष्ट्रीय भावनाओं की उपेक्षा करके नहीं, उनका पूरा पूरा आदर करते हुए।

अन्त में हम शब्द-संग्रह की प्रणाली के संबंध में कुछ बातें बतला देना भी आवश्यक समझते हैं। इस प्रकरण के आरम्भ में हम बतला चुके हैं कि हिन्दी शब्द-सागर का सम्पादन आरम्भ करने से पहले प्रायः दो वर्षों तक शब्द-संग्रह का काम हुआ था। उस समय शब्द-संग्रह की जो सबसे अच्छी कार्य-प्रणाली सोचकर स्थिर की गई थी, वह थी चिटोंवाली प्रणाली। शब्द-संग्रह के लिए कोई डेढ़-दो सौ अच्छी अच्छी और सभी विषयों की पुस्तकें चुन ली गई थीं। शब्द-संग्रह का कार्य करनेवालों में से हर एक को एक पुस्तक दे दी जाती थी; और वह उसे पहले आदि से अन्त तक पढ़कर उसमें से लिये जानेवाले शब्दों के नीचे एक लकीर लगा देता था। इसके उपरान्त वह आरम्भ से एक-एक शब्द लेता था और एक विशेष प्रकार की तैयार की हुई चिट पर वह शब्द, अपनी समझ के अनुसार उसका अर्थ, पुस्तक की क्रम-संख्या, पृष्ठ-संख्या और पंक्ति-संख्या लिख देता था। इस प्रकार की सब चिटें एक साथ इकट्ठी करके रखी जाती थीं। दो वर्ष बाद जब सब पुस्तकों से शब्द-संग्रह हो चुका, तब सब चिटें वर्ण-क्रम से छाँटकर अलग अलग रखी गईं और तब प्रत्येक वर्ण की चिटें क्रम से लगाई गईं। इन्हीं चिटों के आधार पर कुछ सम्पादक शब्दों का सम्पादन करते थे। इसी सम्पादन के समय अन्यान्य कोशों से भी शब्दों और उनके अर्थों आदि का मिलान किया जाता था और क्रम से उनके अर्थ, उदाहरण, क्रिया प्रयोग आदि दिये जाते थे। ऐसे सम्पादित शब्द फिर दूसरे दो सम्पादकों[१] के पास जाते थे, जो उन सम्पादित शब्दों को फिर से अच्छी तरह जाँचते और दोह-

१ इनमें से एक स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल थे; और दूसरा इन पंक्तियों का लेखक। इस कार्य-प्रणाली की विशिष्ट बातें जानने के लिए हिन्दी शब्द-सागर की भूमिका देखनी चाहिए।

राते थे और उनमें आवश्यक परिवर्त्तन, परिवर्द्धन और संशोधन करते थे। तब सम्पादित चिटों से छपने के लिए पाण्डु-लिपि प्रस्तुत की जाती थी।

इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रणाली बहुत अच्छी है, पर इसका प्रयोग बहुत बड़े बड़े कोश तैयार करने के लिए ही उपयुक्त हो सकता है। यह प्रणाली वहीं चल सकती है, जहाँ यथेष्ट धन और समय लगाया जा सकता हो और जहाँ बिलकुल नये ढंग से और नया काम किया जाने को हो। जहाँ पहले से कोश-सम्बन्धी बहुत कुछ काम हो चुका हो, वहाँ इस प्रणाली की उतनी उपयोगिता नहीं। आगे चलकर इस कार्य-प्रणाली के एक बहुत बड़े दोष का भी हम लोगों को अनुभव हुआ था। वह यह कि शब्द-संग्रह का काम तो साधारण लिपिकों से कराया जा सकता है; पर शब्द चुनने का भार उन्हें नहीं दिया जाना चाहिए। सम्पादक-वर्ग के सुयोग्य विद्वानों को स्वयं अच्छे अच्छे ग्रन्थ पढ़ने चाहिएँ; और उनकी समझ में जो शब्द, प्रयोग, मुहावरे आदि लिये जाने के योग्य हों, उनके नीचे उन्हें चिह्न लगा देने चाहिएँ। तब वे शब्द चिटों पर उतारने का काम साधारण लिपिकों को सौंपा जा सकता है। यदि शब्द चुनने का काम भी साधारण लिपिकों से लिया जाय, तो वह कभी पूरा और ठीक नहीं हो सकता। बहुत-सी आवश्यक और उपयोगी सामग्री उनके हाथों छूट जाने और प्रायः बिगड़ने या नष्ट होने का बहुत बड़ा भय रहता है।

अपने उक्त अनुभव के आधार पर प्रामाणिक हिन्दी कोश के कार्य के लिए मैंने जो प्रणाली निर्धारित की है, वह भी मैं संक्षेप में इसलिए यहाँ बतला देना चाहता हूँ कि सम्भव है, भावी कोशकार उससे भी कुछ लाभ उठा सकें। शब्द-संग्रह के लिए जो नई पुस्तक मैं चुनता हूँ, उसे आदि से अन्त तक स्वयं पढ़ जाता हूँ

और उसमें के आवश्यक शब्द आदि चिह्नित कर देता हूँ। तब वह चिह्नित प्रति लिपिक को दे देता हूँ। वह प्रत्येक पुस्तक के लिए एक अलग कापी रखता है; और उस कापी के पन्ने वर्ण-क्रम से बाँट देता है। अ, आ, इ, ई आदि से आरम्भ करके वह स्वरों और व्यंजनों के लिए आवश्यकतानुसार एक-एक, दो-दो पन्ने अलग कर लेता है; और प्रत्येक पृष्ठ के ऊपर अ, आ, क, ख आदि लिख लेता है। इस प्रकार प्रायः ६४ पृष्ठों की एक कापी में अ से ह तक के सब वर्ण आ जाते हैं। लिपिक उस चिह्नित पुस्तक का एक एक शब्द लेता और उसकी पृष्ठ-संख्या के साथ उसे यथा-स्थान लिख चलता है। क से आरम्भ होनेवाला शब्द हुआ तो वह क वाले पृष्ठ में चला गया; और म से आरम्भ होनेवाला शब्द हुआ तो म वाले पृष्ठ में। इस प्रणाली से समय की बहुत बचत होती है। एक तो संग्रह में अनावश्यक शब्द नहीं आने पाते; दूसरे उन्हें वर्ण-क्रम में लगाने का बखेड़ा नहीं करना पड़ता—सब शब्द आपसे आप क्रम से लग जाते हैं। उसी कापी से मैं शब्द लेता और मूल से मिलान करके उन्हें अगले संस्करण के लिए संशोधित प्रति में स्थान देता हूँ। जैसा कि मैं ऊपर बतला चुका हूँ, नये सिरे से और बहुत बड़ा तथा व्यय-साध्य कार्य आरम्भ करने के लिए तो पहलेवाली कार्य-प्रणाली ही अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। पर साधारण परिस्थितियों में काम करनेवाले कोशकार इस दूसरी प्रणाली का भी अच्छा उपयोग कर सकते हैं। यदि भावी कोशकार इसके लिए कोई तीसरी नई और सुगम प्रणाली निकाल सकें तो और भी अच्छा है।

४

शब्द-संख्या

दुर्भाग्यवश हिन्दी के कोश-क्षेत्र में एक बहुत ही दूषित और भ्रामक प्रवृत्ति चल पड़ी है। प्रायः प्रकाशक लोग अपने शब्द-कोशों की शब्द-संख्या खूब बढ़ाने के फेर में पड़े रहते हैं। कोई कहता

है कि हमारे कोश में एक लाख शब्द हैं, कोई सवा लाख बतलाता है और कोई डेढ़ लाख। और ऐसी बातों का एक मात्र उद्देश्य होता है—अपने कोश की बिक्री बढ़ाना। भोली-भाली जनता तो आँखें बन्द करके अधिक शब्दोंवाले कोश खरीदती ही है; कुछ अवसरों पर बड़े-बड़े समझदार और उच्च पदस्थ लोग भी वास्तविक रहस्य न जानने के कारण शब्द-संख्या के जाल में बुरी तरह फँस जाते हैं और अर्थों के महत्त्व का ध्यान छोड़कर प्रकारान्तर से अधिक शब्द-संख्यावाले कोशों की वृद्धि में सहायक होते हैं। अभी थोड़े दिन पहले एक पुस्तक-विक्रेता की दूकान पर एक बुड्ढा डाकिया अपने छोटे लड़के के लिए एक शब्द-कोश लेने आया। उसके सामने कई कोश रखे गये। उनमें से अधिक शब्द संख्यावाला एक छोटा कोश उसने पसन्द किया। मैंने उसके हाथ से वह कोश लेकर देखा। उसे एक जगह से खोलते ही मेरे सामने जो पहला शब्द पड़ा, वह था 'देवालय' और उसके सामने उसका अर्थ लिखा था—पर्शिस्तगाह। मैंने कोश उसे लौटाकर करम ठोंका। जो लड़का देवालय का अर्थ नहीं जानता, वह क्या समझेगा कि यह 'पर्शिस्तगाह' क्या चीज है। वस्तुतः यह फारसी का 'परस्तिशगाह' (देव-पूजन का स्थान) है, जिसने सुयोग्य सम्पादक या सुचतुर प्रकाशक की कृपा से 'पर्शिस्तगाह' रूप धारण किया था! फिर भी हर साल उस कोश की हजारों प्रतियाँ बिकती ही हैं। ऐसे कोश जनता को अन्धकार में रखकर उनकी रुचि उसी प्रकार परिष्कृत नहीं होने देते, जिस प्रकार निम्न कोटि के यौनिक चल-चित्र जनता की रुचि विकृत करते हैं और उन्हें नैतिक दृष्टि से उन्नत नहीं होने देते।

जैसा कि आगे चलकर 'अर्थ और व्याख्या' शीर्षक प्रकरण में बतलाया गया है, कोश का वास्तविक महत्त्व काम के शब्दों और

उनके ठीक अर्थों पर आश्रित होता है, कोरी शब्द-संख्या पर नहीं। मान लीजिए कि किसी कोश में शब्द तो एक लाख हैं, पर उनमें से आधे के लगभग ऐसे शब्द हैं, जिनका कभी कहीं साहित्य में कोई उपयोग ही न होता हो, जो बिलकुल स्थानिक, देहाती या महत्त्वहीन हों या जिनका प्रचलन हजारों वर्षों से छूट चुका हो, तो वे शब्द आपके किस काम के ? शब्द तो कोश-रूपी वृक्ष के पत्ते मात्र होते हैं। उस वृक्ष में फलों का स्थान अर्थों को ही प्राप्त है। सार-गर्भित फलों की आकांक्षा रखनेवालों के लिए अच्छे और ठीक अर्थोंवाले कोश ही उपयोगी होंगे।

एक और दृष्टि से इस बात पर विचार कीजिए। मान लीजिए कि आपके सामने एक ही आकार-प्रकार के हजार-हजार पृष्ठोंवाले दो शब्द-कोश हैं। एक की शब्द-संख्या पचास हजार है, और दूसरे की एक लाख। ऐसी अवस्था में यह स्पष्ट है कि पहले कोश में आपको शब्दों के अर्थ तो अधिक और विशेष विस्तृत तथा स्पष्ट रूप में मिलेंगे; और दूसरे कोश में अर्थों का स्थान कोरी शब्द-संख्या ने घेर रखा होगा। अतः कोशों की शब्द-संख्या बहुत भ्रामक और प्रायः निरर्थक ही होती है। शब्द-संख्या का महत्त्व तो तभी माना जायगा, जब गृहीत शब्दों के अर्थों का विवेचन और व्याख्या भी समुचित रूप से हो। और नहीं तो शब्द-संख्या वह धोखे की टट्टी ही है, जिसकी आड़ से भोले-भाले ग्राहकों का शिकार भर होता है।

एक शब्द-कोश में अंक, अंग, चंद्र, तंतु, तंद्रा, दंत आदि शब्द अनुस्वार से भी दिये गये हैं और पंचम वर्ण से अङ्क, अङ्ग, चन्द्र तन्तु, तन्द्रा, दन्त आदि रूपों में भी; और इस प्रकार शब्द-संख्या एक लाख के ऊपर पहुँचाई गई है। एक और बहुत बड़े हिन्दी कोश में मुझे अयुकृछद, आटिक्य, आतृण्ण, आवर्हित, इंचाक, इचिकाल, इभोषणा, इषण्या, उपोढ़, कृप्टोप्त, क्रोष्ट्री, त्र्यार्षेय,

त्वाष्ट्री, थड़ितुल, द्दन्फू, द्दन्भू, बैष्क, भृशु, भेरुंड, भ्रेष, संडीन, संवितिका-फल, संश्वत, सध्रीची, स्तब्धधोद, स्फूर्जथु, ह्रेपुक आदि हजारों ऐसे संस्कृत शब्द मिले, जो पचास वर्षों के हिन्दी-सेवा-काल में अथवा बयालिस वर्षों के कोश-कार्य में हिन्दी साहित्य में कभी मेरे देखने में नहीं आये और न जिनके प्रचलित हो सकने की आगे कोई आशा ही की जा सकती है। इनके सिवा उसमें अरबी-फ़ारसी के आरिज, इनकिशाफ, इश्तराकिया, इल्लत-फाइली, इल्लत-माद्दी, मुस्ततील, मुस्तफीद, मुस्तौजिरी, शफीअ और अँगरेजी के प्रीमियम, प्रीमियर, प्रिविलेज लीव, प्रोक्लेमेशन, प्रेस कम्यूनिक, प्रोग्रस रिपोर्ट, प्रोबेशनरी, प्रोसेशन आदि हजारों शब्द इसी लिए भरे गये थे कि शब्द-संख्या सवा-लाख हो जाय !

आज-कल हिन्दी के कुछ सामयिक पत्रों में वर्ग-पहेलियाँ निकलने लगी हैं। वर्ग-पहेलीवालों को अधिक शब्द-संख्यावाले कोशों की सहायता अपेक्षित होती है। अर्थों का तो वे उनमें स्वयं मन-माना आरोप कर लिया करते हैं। वर्ग-पहेलियों के कारण शब्द-कोशों की बिक्री बढ़ती है, इसलिए अब कुछ लोग इसी दृष्टि से कोश बनाने और छापने लगे हैं। इस तरह की बातों के कारण कोश के दूसरे आवश्यक अंगों, गुणों और विशेषताओं पर पानी फेरकर केवल शब्द-संख्या लाखों तक पहुँचाने की प्रवृत्ति और भी बढ़ रही है। पर यह प्रवृत्ति कभी प्रशंसनीय नहीं हो सकती, क्योंकि इससे कोशों का स्तर ऊपर उठने में बहुत बाधा होती है। अतः इस प्रवृत्ति से जितनी जल्दी हमारा पीछा छूटे, उतना ही अच्छा।

इस समय हिन्दी को ऐसे कोशों की आवश्यकता नहीं है, जिनमें फालतू और व्यर्थ के शब्द भरे हों और जिनमें अर्थों के स्थान पर नाम मात्र के दो-चार उलटे-सीधे पर्याय देकर काम चलता किया गया हो। हिन्दी का वर्त्तमान गौरव तो ऐसे शब्द-

कोशों की अपेक्षा करता है, जिनमें मध्य-युगीन हिन्दी रचनाओं के शब्दों के सिवा आधुनिक हिन्दी में दिन-पर-दिन बढ़नेवाले सभी प्रकार के शब्दों का विस्तृत अर्थों और व्याख्याओं सहित समावेश हो और जिनका पूरा पूरा उपयोग हिन्दी-भाषियों के अतिरिक्त अन्य भाषा-भाषियों के लिए भी हो सके। आशा है, हिन्दी के भावी कोशकार ऐसे कोशों की रचना करेंगे जो विदेशी उन्नत भाषाओं के शब्द-कोशों की बराबरी कर सकें और जो हिन्दी तथा भारत का मुख उज्ज्वल करनेवाले हों। और यह बात तभी हो सकेगी, जब हम शब्द-संख्या का मोह छोड़कर शब्दों के अर्थगत महत्त्व और उनके पारस्परिक सूक्ष्म अन्तरों की ओर अधिक ध्यान देंगे।

एक बात और है। कोशों का स्तर ऊँचा करना कोश के सम्पादकों और प्रकाशकों का काम तो है ही; हिन्दी-प्रेमी पाठक और जिज्ञासु भी एक दूसरे प्रकार से उनका स्तर ऊँचा करने में सहायक हो सकते हैं। निम्न कक्षाओं के साधारण विद्यार्थियों की बात तो दूसरी है; पर जो पाठक अधिक शिक्षित और समझ-दार हों, उनसे अवश्य यह आशा की जाती है कि वे कोशों में आये हुए शब्दों के अर्थ-गत महत्त्व पर ही अधिन ध्यान देंगे, उनकी कोरी शब्द-संख्या पर नहीं। और जब साधारण पाठक भी कोशों का अर्थ-गत महत्त्व ठीक तरह से और पूरा पूरा समझने लगेंगे, तब कोशों का स्तर आप-से-आप ऊपर उठने लगेगा—सम्पादक और प्रकाशक वह स्तर ऊपर उठाने के लिए विवश हो जायँगे।

५

शब्दों के रूप

यों तो सभी भाषाओं में शब्दों के अनेक रूपान्तर और उनमें कुछ विकार होते हैं, पर हिन्दी में इस प्रकार के रूपान्तर और विकार कई कारणों से अपेक्षाकृत अधिक होते हैं। पहले तो व्याकरण के नियमों के अनुसार होनेवाले रूपान्तर हैं, जिन्हें विकार कहते हैं। उदाहरणार्थ—एक साधारण शब्द 'करना' लीजिए। इसके कर, करे, करो, करता, करती, करते आदि अनेक ऐसे रूप तो होते ही हैं, जिनमें की 'कर' धातु के द्वारा 'करना' के साथ

उनका सम्बन्ध सूचित होता है; पर कुछ रूप ऐसे भी होते हैं, जिनका 'कर' या 'करना' से कोई सम्बन्ध ही नहीं सूचित होता। जैसे—किया, की, कीजिए आदि। अब यदि इसके साथ 'करना' और उसके विकारों के कियो, कीन्ह, कर्‌यो, कीजियत, कीजै आदि स्थानिक या प्रान्तिक रूप भी ले लिये जायँ, तो विकारों की संख्या और भी बढ़ जाती है। इसी प्रकार 'होना' क्रिया का भूत-कालिक रूप 'हुआ' तो होता ही है, कहीं 'भया', कहीं 'भयो' और कहीं 'भा' भी होता है। तिसपर लिंग, वचन आदि के विचार से, प्रसंग के अनुसार होनेवाले अलग अलग रूप तो हैं ही। यही बात अन्यान्य सब क्रियाओं, विशेषणों, संज्ञाओं आदि के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए।

दूसरे, शब्दों के रूप बदलने या तोड़ने-मरोड़ने में कवि लोग भी कुछ कम सहायक नहीं होते। कुछ तो कविता के लिए शब्दों के रूप बदलने का उन्हें विशिष्ट अधिकार-सा होता है; और कुछ अवस्थाओं में उन्हें छन्द-शास्त्र या पिंगल के नियमों अथवा छन्दों के विस्तार के विचार से भी तोड़-मरोड़ करने के लिए विवश होना पड़ता है। कुछ पुराने कवियों ने तो 'दीन्ह' की जगह 'दिन' का और कुछ ने दिवस-वाचक 'दिन' के अर्थ में 'दीन' तक का प्रयोग किया है। 'देत', 'लेत' तो सभी कहते हैं, पर दीनदयाल गिरि ने पाद-पूर्त्ति के लिए 'देवत' और 'लेवत' रूप भी कर दिये हैं। 'अप्सरा' का वाचक अरबी 'हूर' शब्द तो प्रसिद्ध है ही, पर किसी कवि ने केवल 'तुरकिनी' का अनुप्रास मिलाने के लिए उसे 'हुरकिनी' भी कर दिया है। केशव, पद्‌माकर, भूषण आदि शब्दों के ऐसे तोड़-मरोड़ के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। अमृत-ध्वनि छन्द में द्वित्त्व वर्ण लाने के लिए तो शब्दों को ऐसे विकट रूप देने पड़ते हैं कि बस ईश्वर ही रक्षक है। यह तोड़-मरोड़ इतने अधिक विस्तृत क्षेत्र में और इतने अधिक रूपों में प्रचलित है कि यदि

इसके नियमों और भेदों-उपभेदों का ठीक और पूरा विवेचन किया जाय तो एक स्वतंत्र पुस्तक तैयार हो जाय। तो भी दिग्दर्शन मात्र के लिए यहाँ कुछ बातों का उल्लेख कर देना आवश्यक जान पड़ता है।

शब्द के अन्त में कहीं आ, कहीं ई, कहीं ऊ, कहीं ओ आदि बढ़ा देना कवियों के बाएँ हाथ का काम है। जैसे— काम को कामा या कामू, चाल को चालि या चाली, भाल को भाला आदि। फिर (क) कहीं व्याकरण के नियमों के कारण और (ख) कहीं अनुप्रास के विचार से उन्हें शब्दों के रूप में कुछ विकार करने पड़ते हैं। जैसे—(क) भालहिं, चालु आदि; और (ख) अन्याय की जगह अन्याई, निश्चित की जगह निहचीत, अपेय की जगह अपीव, आयु की जगह आउ या आऊ आदि। परन्तु कोशों में साधारणतः काम, चाल, भाल आदि रूप ही लिये जाते हैं। कविताओं में छन्द के विचार से प्रायः ह्रस्व मात्राएँ दीर्घ और दीर्घ मात्राएँ ह्रस्व भी कर दी जाती हैं। कभी कहीं कुछ अक्षर घटा-बढ़ा भी दिये जाते हैं; जैसे—कृत्स्न की जगह कृतिसन, अश्म की जगह अस्मय, लाक्षा की जगह लच्छा, पत्नी की जगह पतिनी आदि। कभी कभी वे मन-माने ढंग से या पुराने शब्दों के ढंग पर नये शब्द भी गढ़ लेते हैं। जैसे—अमूल्य की जगह निरमोलक; और मीत से मीतता। आवश्यकता पड़ने पर वे छन्दों के विचार से संस्कृत समासों के नियमों के अनुसार नई सन्धियाँ भी कर लेते हैं। जैसे—तुलसीदास जी ने 'अति' और 'दीन' के योग से 'तिदीन' बना लिया है और गृह+आदि के योग से बननेवाले 'गृहादि' को पाद-पूर्त्ति के लिए 'गृहादी' कर दिया है। यथा—बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। अति और दीन या गृह और आदि तो संस्कृत के शब्द हैं; पर कुछ लोग ठेठ हिन्दी शब्दों में भी इसी प्रकार का संयोग कर देते हैं। भूषण

ने 'कहा अब' को मिलाकर 'कहाब' (भूषण भानु कृषानु कहाब खुमान प्रताप महीतल पागे ।) और 'सो अब' को मिलाकर 'सोब' (यों सिवराज को राज अडोल, कियो सिव सोब कहा ध्रुव धू है ।) कर दिया है । 'हे अली' को मिलाकर 'हेली' रूप तो अनेक प्राचीन कवियों ने दिया ही है। सुमित्रानंदन पंत ने भी सं० स + हिं० उभार को मिलाकर सोभार (मुक्त नभ-वेणी में सोभार) बनाया है। अवधी, ब्रज भाषा आदि में अवलोकन, मिलन सरीखे कुछ शब्द अवलोकनि, मिलनि आदि रूप धारण करके पुं० से स्त्री० भी हो जाते हैं। जैसे—अवलोकनि, बोलनि, मिलनि, प्रीति परस्पर हास।—तुलसी। कवि लोग सुन्दरता से सुन्दरताई, चारुता से चारुताई या फजीहत से फजिहतताई सरीखे शब्द भी बना लेते हैं। इस प्रकार के शब्द सामने आने पर कोशकार के सामने यह विकट प्रश्न उपस्थित होता है कि इन्हें कोश में स्थान दिया जाय या नहीं। सिद्धान्ततः शब्दों के ऐसे रूपों को शब्द-कोश में स्थान नहीं मिलना चाहिए। इनका विवेचन तो विशिष्ट ग्रन्थों की टीकाओं, भूमिकाओं आदि में प्रसंग के अनुसार, अथवा प्रान्तीय भाषाओं या स्थानिक बोलियों के व्याकरणों में ही रहना ठीक होगा। पर जब तक सभी प्रसिद्ध और मान्य कवियों के ग्रन्थों के ऐसे सटीक और प्रामाणिक संस्करण और सभी विभाषाओं तथा बोलियों के व्याकरण सुलभ न हों, तब तक क्या किया जाय? अच्छे कोशकार को ऐसे विकट अवसरों पर बहुत ही विचारपूर्वक यह निर्णय करना पड़ता है कि इस प्रकार के कौन-से शब्द अथवा उनके कौन-से रूप लिये जायँ और कौन-से न लिये जायँ।

शब्दों की अक्षरी भी कोशकारों के सामने एक विकट समस्या उपस्थित करती है। पुराने कवि और उनकी कृतियों के लिपिकार शब्दों के उच्चारण और अक्षरी का न तो उतना

अधिक ध्यान ही रखते थे, न उनके समय में शब्दों के मानक रूप ही स्थिर होने पाते थे। उन्हें संस्कृत शब्दों को हिन्दी रूप भी देने पड़ते थे और जन-साधारण के उच्चारण का भी ध्यान रखना पड़ता था। इसी लिए वे विषाण को बिखान, कल्प को कलप, पय को पै, प्रश्न को प्रसन या परसन, निर्यास को निरजास, निष्काम को निहकामी, विहगेश को बिहँगेस और संहार को संघार कर देते थे। 'निवास' से 'निवसना' तो बना ही, कहीं उसका रूप 'निमसना' भी हो गया। हमारा देश बहुत अधिक विस्तृत है; और हिन्दी का प्रचार सदा से बहुत दूर दूर तक के क्षेत्रों में रहा है। प्रायः कवि लोग अपने क्षेत्र की बोली या उसके कुछ शब्दों का भी प्रयोग करते थे ; और कभी कभी दूसरे कवियों द्वारा प्रयुक्त और दूसरे क्षेत्रों में प्रचलित शब्दों का प्रयोग करने में भी वे संकोच नहीं करते थे। कबीर, सूर, तुलसी मीराँ आदि सभी ने अपने अपने क्षेत्रों में प्रचलित शब्दों के अतिरिक्त दूर दूर तक के क्षेत्रों में प्रचलित शब्द अपनी कविताओं में रखे हैं; और लिपिकारों ने ऐसे एक एक शब्द के अनेक रूप और अक्षरियाँ कर दी हैं, जिससे अर्थ खुलना असम्भव-सा हो जाता है। अब धीरे धीरे उन शब्दों के ठीक रूपों और अर्थों तक पहुँचने का प्रयत्न हो रहा है। इस प्रयत्न की सफलता में कोशकार भी बहुत कुछ सहायक हो सकते हैं।

शब्दों के भिन्न भिन्न रूप मुख्यतः तीन कारणों से होते हैं। एक तो स्थानिक उच्चारण के भेद से। जैसे—'को' कहीं 'कों' बोला जाता है, कहीं 'कौं' कहीं 'कौ'। कोई 'बिसवा' कहता है, कोई 'बिस्वा' और कोई 'बिस्सा'। कोई 'कबाड़' कहता है और कोई 'कबार'। इसी उच्चारण-भेद के कारण कोई 'हलुआ' लिखता है, कोई 'हलवा' और कोई 'हेलुआ' या 'हेलुवा'। शब्दों के स्थानिक रूपान्तर भी इसी वर्ग में आते हैं। जैसे – 'कारिख' और

'करखा', 'टहलुआ' या 'टहलू', 'यहाँ' और 'इहाँ' या 'हियाँ' 'वहाँ' और 'उहाँ' या 'हुआँ', 'सूखना' और 'सूकना' आदि। कहीं 'र' का 'ल' और कहीं 'ल' का 'र' हो जाता है। 'र' कहीं 'ड़' हो जाता है और 'ड़' कहीं 'र' बन जाता है। जैसे—'खोपड़ा' का 'खोपरा' या 'चुपड़ना' का 'चुपरना'। 'ष' प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः 'ख' के रूप में मिलता है; पर कहीं कहीं 'ख' का 'ष' भी हो जाता है। श, ष तथा स प्रायः 'स' के रूप में ही मिलते हैं। 'य' प्रायः 'ज' हो जाता है; जैसे—योगी से जोगी, यश से जस आदि। अच्छे कोशकार को ऐसे अवसरों पर मानक और शिष्ट-सम्मत रूप स्थिर करके ग्रहण करना पड़ता है; और उसी के साथ अर्थ या व्याख्या रखनी पड़ती और उसका विवेचन करना पड़ता है। शेष रूपों के सामने मानक रूप का उल्लेख या अभिदेश मात्र यथेष्ट होता है। अर्थ दिया जायगा 'वजीर' में; और 'उजीर' के आगे होगा—दे० वजीर। ऐसा करके कोशकार व्यर्थ के पिष्ट-पेषण और विस्तार से बचता है।

शब्दों के कई कई रूप मिलने का दूसरा कारण होता है—छन्दों में मात्राएँ पूरी करने का नियम। इसी कारण 'देव' और 'नरक' कहीं 'देवा' और 'नरका' या 'नरकू' हो जाते हैं, 'खँभार' कहीं 'खँभारा' या 'खँभारो' और 'कबार' कहीं 'कबारू' और कहीं 'कबारौ' हो जाता है। 'अर्थ' कहीं 'आथ' हो जाता है, और 'उत्तर' कभी 'ऊतर' हो जाता है और कभी 'उतरु'। कहीं कहीं अन्त में 'न' बढ़ जाता है, जैसे दोच से दोचन। और कहीं आरंभ में 'अ' बढ़ जाता है, जैसे 'नाहक' का 'अनाहक'। इस प्रकार की बहुत-सी बातें हैं, जिनका उल्लेख करना अनावश्यक जान पड़ता है। साधारण पाठक अध्ययन करते करते इस प्रकार की बहुत-सी बातों से सहज में परिचित हो जाते हैं। ऐसी अनेक बातें अवधी, बुन्देलखंडी, व्रज भाषा, राजस्थानी आदि के अलग

अलग व्याकरणों के अध्ययन से भी जानी जा सकती हैं।

शब्दों के रूप विकृत होने का एक तीसरा और बहुत ही विकट क्षेत्र है, जिससे पार पाना बहुत ही कठिन है। वह क्षेत्र है लिपिकारों के प्रमाद और प्रेस के भूतों की कृपा का। प्राचीन काल में किताबों के शौकीन इधर-उधर से किसी पुस्तक की हस्त-लिखित प्रति मिलने पर किसी न किसी कारण से उसकी उलटी-सीधी प्रतिलिपि कर लिया करते थे। यह क्रम बराबर आगे बढ़ता रहता था जिससे पाठ विकृत होता चलता था। अधिक से अधिक प्राचीन हस्त-लिखित प्रतियों का महत्त्व इसी लिए अधिक होता है कि वे मूल के बहुत पास की होती हैं। उनमें विकार का उतना अधिक अवकाश नहीं रहता, जितना परवर्त्ती काल की प्रतियों में होता है। पर अधिकतर ऐसे ही हस्त-लिखित ग्रन्थ मिलते हैं, जिनके पाठ मूल पाठ से बहुत कुछ भिन्न होते या बहुत दूर जा पड़ते हैं। और ऐसी प्रतियों के कारण लोगों का मूल कवियों या लेखकों के आशय तक पहुँचना कभी कभी असंभव हो जाता है। यदि आप को कहीं 'भू-तनया' की जगह 'भूत नया', 'सारंग' की जगह 'मारंग' या 'भौन' की जगह 'मौन' लिखा हुआ मिले, तो आप उसका क्या अर्थ समझेंगे? अथवा यदि शुद्ध पाठ तो हो—

सब रंग तंत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।

परन्तु लिपिकार के प्रमाद, सम्पादक के अज्ञान अथवा प्रेस के भूतों की कृपा से लिखा या छपा हो—

सब रंग तंतर बाबतन, बिरह बजावै नित्त।

तो इसमें के तंतर और बाबतन का आप क्या अर्थ समझेंगे? अथवा यदि 'सुरति ढेंकुली लेज ल्यौ' की जगह मिले—'सुरति ढेंकुली लै जल्यौ' तो आप इसका क्या अर्थ करेंगे? ऐसे अवसरों पर अच्छे कोशकार या सम्पादक की प्रखर बुद्धि ही

बात की तह तक पहुँच सकती और शब्द का ठीक रूप स्थिर कर सकती है।

घनानंद के कवित्तों का जो संग्रह पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र ने सं० २००० में प्रकाशित किया था, उसमें एक जगह छपा था—तिहारे निहारे बिन प्राननि करत होरा, बिरह-अँगार निमगारि हिय होरी सी। इसमें के 'निमगारि' शब्द का अर्थ नीचे पाद-टिप्पणी में दिया गया था—निकालकर, उत्पन्न करके। दो वर्ष बाद जब 'घनानन्द और आनन्द घन' प्रकाशित हुआ, तब उसमें भी यही बात ज्यों की त्यों छप गई। इसके कई वर्ष बाद अपने कुछ मित्रों में होली की बात-चीत के समय मिश्र जी ने सुना—होली मंगल गई। मंगल-भाषित का यह नया प्रयोग सुनते ही उनका ध्यान 'बिरह-अँगार निमगारि हिय होरी सी' की ओर गया; और उन्होंने समझ लिया कि घन आनन्द की हस्त-लिखित प्रति के लिपि-दोष के कारण ही 'अँगारनि मँगारि' का 'अँगार निमगारि' हो गया है; और 'होली मंगलना' वाला मुहावरा ही उक्त चरण में 'मँगारि हिय होरी सी' के रूप में आया है। तब उन्होंने घनानन्द कवित्त के दूसरे संस्करण (सं० २००७) में यह भूल सुधारी। यदि साधारण बात-चीत में आये हुए एक मुहावरे को तुच्छ समझकर मिश्र जी उसकी ओर ध्यान न देते, तो अभी और न जाने कितने दिनों तक यह गुत्थ न सुलझती।

कभी कभी शब्दों के अन्त में कुछ प्रत्यय लगकर एक नया अर्थ उत्पन्न कर देते हैं। एक बार वैशाख मास का ऋतु-चित्र देखकर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था—'भला बतलाइए, इसमें क्या वैसाखियत है!' एक कहानी-संग्रह में एक कहानी के सम्बन्ध में लिखा था—'इसमें कहानियत बहुत बढ़ी-चढ़ी है।' हिन्दी का यह 'इयत' प्रत्यय 'पन' प्रत्यय का वाचक होता है; और संज्ञाओं

के अन्त में लगकर उन्हें भाववाचक बनाता है। इसी प्रकार का 'आहट' प्रत्यय भी है जिसके योग से 'घबराहट' के ढंग पर कुछ लोगों ने 'खिजलाहट' फुसलाहट' सरीखे कुछ शब्द बनाकर साहित्य में उनका प्रयोग किया है। ब्रज भाषा में तुमहिं का अर्थ होता है—तुमको या तुम्हें, और करिहैं का अर्थ होता है—करेंगे। पर साधारणतः कोशों में तुमहिं और करिहैं सरीखे रूप लेने का नियम नहीं है[१]। कारण यही है कि इस प्रकार की बातें कोशों की अपेक्षा व्याकरण से ही अधिक सम्बद्ध होती हैं। ऐसी बातों का विवेचन वैयाकरण ही ठीक तरह से कर सकते हैं, कोशकार नहीं। कोशकार तो अधिक से अधिक यही कह सकता है कि

---

१ संक्षिप्त हिन्दी शब्द-सागर के पाँचवें संस्करण का जो परिशिष्ट नागरीप्रचारिणी सभा ने बिना मुझसे पूछे या परामर्श लिये तैयार कराया था, उसमें (क) जंगल (ख) पानी और (ग) कपास के अर्थ में 'बनौ' देखकर मैं बहुत चकराया था। मेरी समझ में न आया कि 'बन' का 'बनौ' रूप क्यों और कैसे लिया गया और यह कहाँ से आया है। सोचने पर याद आया कि बिहारी ने कहा है—

सब सूक्यौ, बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि।

और वहीं से यह 'बनौ' शब्द ज्यों का त्यों ले लिया गया है। वास्तव में यहाँ 'बन' में बुन्देलखंडी और अवधी का 'औ' प्रत्यय लगा है जो ब्रज भाषा के 'हू' का दूसरा रूप और 'भी' का वाचक है। यहाँ 'बनौ' का अर्थ है—कपास भी। इसके बाद ही जो 'ऊखौ' शब्द आया है, उसका अर्थ भी इसी प्रकार है—ऊख भी। और यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के रूप कोशों में इसलिए नहीं लिये जाने चाहिएँ कि यह 'ौ' कुछ विशिष्ट प्रकार के सभी शब्दों में लग सकता है; और वह किसी शब्द का उसी प्रकार मौलिक अंग नहीं है, जिस प्रकार कलात्मक, रागात्मक और संयोगात्मक आदि में का आत्मक। अतः इस 'ौ' का भी 'आत्मक' पन, इ आदि प्रत्ययों की तरह स्वतंत्र विवेचन होना चाहिए।

'हिं' या 'हि' का अर्थ अमुक विभाषा में 'को' होता है, (जैसे-तोहिं, वाहि आदि) और 'है' या 'हैं' अमुक विभाषा में क्रियाओं के अन्त में लगकर 'गा' या 'गे' का वाचक होता है; (जैसे-खैहै, दैहैं आदि)। कोशकार तो यही बतलावेगा कि 'तुम्हरा' या 'तुम्हरो' का वही अर्थ है, जो 'तुम्हारा' का है; पर 'तुम्हरैं' का अर्थ 'तुम्हारे यहाँ' (सो तुम्हरैं अवतरे आनि कै, सूरदास के स्वामी।—सूर) बतलाना मुख्यतः वैयाकरण का काम है; अथवा इस कोशकार का, जो विशिष्ट रूप से सूरदास के शब्दों अथवा व्रज भाषा का कोश बनाने बैठे।

व्रज भाषा सूर-कोष में 'कोसिबे' का अर्थ 'कोसने' या 'खिसियाइ' का अर्थ 'खिसिया या लजाकर' या 'गावती' का अर्थ 'गाती है' आया है। इस प्रकार के रूप और अर्थ तो उक्त कोश में फिर भी जैसे-तैसे खप सकते हैं, पर साधारण कोशों में ऐसे सभी शब्द या शब्दों के सभी रूप किसी प्रकार नहीं लिये जा सकते। मेरे एक स्थानिक विद्वान् मित्र इसी लिए हिन्दी कोशों की हँसी उड़ाते हैं कि उनमें उन्हें इस प्रकार के सब शब्द-रूप नहीं मिलते। वे कहते हैं कि जब तक शब्दों के सभी प्रकार के रूप कोश में न हों, तब तक वह कोश ही नहीं है। और कदाचित् इसी प्रकार की धारणा के वशवर्त्ती होकर व्रज भाषा सूर-कोष में 'गाना' क्रिया के गाइ. गाइबो, गाइँ, गाई, गाउ, गाऊँ, गाऊ, गाएँ, गाए, गानत, गानति, गानि, गानी, गाने. गानैं, गान्यौ, गायौ, गावनो, गावहिं, गावहिंगे, गावहु, गावै, गावैं, गावैगो, गावौ आदि जितने रूप मिले, वे सभी ले लिये गये हैं; और इनमें से बहुतेरे रूपों के साथ अलग अलग उदाहरण भी दे दिये गये हैं। यहाँ तक कि 'कथत' शब्द तो उदाहरण सहित लिया ही गया है, उसका स्त्री० रूप 'कथति' भी अलग लिया गया है, और उसमें भी एक उदाहरण है। अब समझने की बात यह

है कि भाषा में इस प्रकार की सैकड़ों-हजारों क्रियाएँ हैं; और उन सभी क्रियाओं के ऐसे अनेक रूप या विकार होते हैं। फिर हमारे लिए (अर्थात् साधारण कोशकार के लिए) एक ब्रज भाषा तो है ही नहीं। खड़ी बोली, अवधी, राजस्थानी, बुन्देली, पूर्वी आदि अनेक स्थानिक भेद-उपभेद भी तो हैं। यदि साधारण कोशकार उन सभी बोलियों की सभी क्रियाओं के सभी रूप लेने लगे तो उसका कहाँ ठिकाना लगेगा! वस्तुतः इस प्रकार की बातों का विचार या तो व्याकरण के क्षेत्र में आता है, या भाषा-विज्ञान के। ये बातें साधारण शब्द-कोश के अधिक्षेत्र के बाहर की हैं। किसी विशिष्ट बोली या विभाषा के कोश में भी एक जगह वे सब नियम बतला देना ही यथेष्ट होगा, जिनके अधीन शब्दों के रूप बदलते या विकृत होते हैं। सभी शब्दों और विशेषतः सभी क्रियाओं के सभी रूपों के फेर में पड़ना, अपने लिए व्यर्थ का सिर-दर्द मोल लेना तो है ही, पाठकों के सिर व्यर्थ का भार मढ़ना भी है। इन्हीं कारणों से अच्छे कोशकार को विचारपूर्वक यह स्थिर करना पड़ता है कि अमुक शब्द अमुक रूप में लिया जाना चाहिए, या अमुक रूप में नहीं लिया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में उसे कुछ निश्चित और सर्व-मान्य सिद्धान्तों का पालन करना पड़ता है[१]।

---

१ उदाहरणार्थ—(क) कोशों में क्रियाएँ अपने साधारण रूप में ही ली जाती हैं। प्रायः क्रियाएँ ऐसे रूपों में भी प्रयुक्त होती हैं, जिन्हें हम क्रिया-विशेषण रूप कह सकते हैं, पर जो वस्तुतः क्रियाओं के पूर्व-कालिक रूप होते हैं। बिहठना, बिहँसना आदि के क्रमशः बिहठि, बिहँसि रूप भी प्रायः कविताओं में मिलते हैं; पर ऐसे रूप कोशों में लेने का नियम नहीं है। (ख) सिद्धान्ततः संज्ञाएँ और विशेषण सदा पुं० रूप में ही लिये जाते हैं, स्त्री० रूप में नहीं। हाँ, जिज्ञासुओं के सुभीते के लिए उनके आगे स्त्री० रूप भी दिखला दिये जाते हैं;

ऐसा करने से वह भी बहुत-सी कठिनाइयों से बच जाता है; और कोश का उपयोग करनेवालों को भी शब्द ढूँढ़ने में सुगमता होती है।

संज्ञाओं से बनी हुई क्रियाएँ तो ली ही जाती हैं, पर अपने साधारण वर्त्तमान-कालिक रूप में, भूत-कालिक या भविष्यत् कालिक रूपों में नहीं। पर 'खड़ा' या उसका वाचक 'ठाढ़ा' शब्द ऐसा है, जिसका साधारण रूप 'खड़ना' या 'ठाढ़ना' होता ही नहीं। अतः ऐसे शब्द ऐसे ही रूपों में लिये जाते हैं। 'आफत का मारा' सरीखे प्रयोगों के कारण 'मारा' शब्द लेना आवश्यक नहीं हो जाता। विवेचन या तो 'आफत' के अंतर्गत पद के रूप में होना चाहिए या 'मारना' क्रिया के अंतर्गत।

कवि लोग ही शब्दों के रूप गढ़ने और विकृत करने में दक्ष नहीं होते; गद्य लेखक भी इस कार्य में परम पटु होते हैं। यह ठीक है कि आज-कल हमारी साहित्यिक भाषा का स्वरूप पहले की अपेक्षा बहुत-कुछ मँजकर स्थिर हो चुका है; पर वह है तो जीवित भाषा ही; और तिसपर सारे भारत में सब से अधिक बोली और समझी जानेवाली भाषा है। इसके फल-स्वरूप स्थानिक प्रभावों के कारण इसमें अनेक प्रकार के परि-

---

और जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ कोष्ठक में यह निर्देश भी कर दिया जाता है कि यह शब्द राज-स्थानी, बुन्देली, व्रज, अवधी, पूर्वी अथवा ऐसी ही और किसी विभाषा या स्थानिक बोली का है। इसी प्रकार संज्ञाओं के आगे उनके स्त्री० या अल्पा० रूप और आवश्यकतानुसार उनसे बननेवाले भूत कृदन्त, विशेषण आदि रूप और विशेषणों के आगे उनसे बननेवाले भाववाचक संज्ञा रूप भी दिखला दिये जाते हैं। और (ग) जो शब्द या प्रयोग सदा बहुवचन में ही आते हों या उभय-लिंगी हों, उनके आगे उनकी इस विशेषता का निर्देश करना भी आवश्यक होता है।

वर्त्तन और रूपान्तर होते रहते हैं और तरह तरह के नये शब्द और प्रयोग आकर मिलते चलते हैं। इनमें से जो शब्द और प्रयोग अच्छे और उपयोगी होते हैं, वे तो चल निकलते हैं; और जो भद्दे, रद्दी या अनावश्यक होते हैं, वे उसी तरह छूट या मर जाते हैं, जिस तरह पुरानी कविताओं के बहुत-से शब्द और प्रयोग अब तक छूट या मर चुके हैं। अच्छे कोशकार को पहले वर्ग के शब्दों और प्रयोगों का तो संग्रह कर लेना चाहिए, पर दूसरे वर्ग के शब्दों या प्रयोगों में यदि कुछ का संग्रह करना आवश्यक समझा जाय तो उनके संबंध में बहुत सोच-समझ कर निर्णय करना चाहिए।

दूसरे वर्ग के शब्दों और प्रयोगों में ऐसे शब्द आते हैं जिनका मूल प्रायः अज्ञान में होता है। भाषा की प्रकृति, शब्दों की व्युत्पत्ति और स्वरूप तथा व्याकरण के नियमों का ठीक और पूरा ध्यान न रखने के कारण ही बँगला में 'अकाट्य' शब्द बना और हिन्दी में कुछ लोगों ने आँखें बन्द करके उसे ले लिया और चलाना चाहा। एकाकीपन, कट्टरता, अर्पणनामा, बहुतांश, मुसलमानत्व, प्रागल्भ्य, पृथक्कीकरण, अपनत्व, अल्हड़ता, लाजुकता सरीखे असिद्ध और भद्दे प्रयोग इसी प्रकार के अनवधान के फल-स्वरूप कभी-कभी हमारे गद्य साहित्य में दिखाई देते हैं। ऐसे शब्द या तो कोश में लिये ही नहीं जाने चाहिएँ, या उनके आगे उनके शुद्ध रूप का निर्देश मात्र करके यह संकेत भी कर देना चाहिए कि यह रूप अशुद्ध या असिद्ध है, जिसमें ऐसे भद्दे प्रयोगों का आगे प्रचलन न होने पावे।

इसी वर्ग में कुछ ऐसे शब्द भी आते हैं, जिनके रूप प्रायः विवादास्पद होते हैं और जिनके सम्बन्ध में विद्वानों में मत-भेद होता है। हिन्दी में पहले 'उपरोक्त' शब्द अशुद्ध माना जाता था और इसी लिए उसके स्थान पर 'उपर्युक्त' चला। पर अब

वैदिक भाषा के कुछ ज्ञाता 'उपरोक्त' रूप भी शुद्ध बतलाते हैं। कोई 'राष्ट्रिय' रूप शुद्ध बतलाता है, कोई 'राष्ट्रीय'। किसी के मत से राजनीतिक ठीक है, किसी के मत से राजनैतिक। अंतर्राष्ट्रीय, अंतरराष्ट्रीय और अंताराष्ट्रीय के सम्बन्ध में तो बहुत दिनों से झगड़ा चल ही रहा है। संस्कृत व्याकरण के नियम कुछ इतने विस्तृत और व्यापक हैं कि सब लोग उन्हें समझकर यह निर्णय नहीं कर सकते कि वस्तुतः कौन-सा रूप शुद्ध है। साधारण कोशकार के लिए यह स्थिति और भी विकट हो जाती है। ऐसी अवस्था में उसे अधिक प्रचलित रूप ही ग्रहण करके उसके आगे अर्थ देना पड़ता है। शेष रूपों का उल्लेख मात्र करके अपने गृहीत रूप की ओर अभिदेश कर देना यथेष्ट है।

हिन्दी कोशों के लिए प्रायः संस्कृत कोशों से भी शब्द लिये जाते हैं। ऐसे शब्द लेते समय कई बातों का ध्यान रखना पड़ता है। संस्कृत के कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जो हिन्दी में ज्यों के त्यों अपने मूल रूप में नहीं आते, बल्कि कुछ परिवर्त्तित या भिन्न रूप में आते हैं। संस्कृत के आयुस्, तेजस सरीखे शब्दों का अन्तिम हल् 'स' हिन्दी में नहीं लिया जाता; और ऐसे शब्द आयु, तेज आदि रूपों में चलते हैं। इसी प्रकार दामन्, नामन्, सरीखे शब्दों का अन्तिम हल् 'न' भी हिन्दी में छूट जाता है और उनके रूप दाम, नाम आदि रह जाते हैं। संस्कृत का चन्द्रमस् हिन्दी में चन्द्रमा और आत्मन् हिन्दी में आत्मा हो जाता है। तेजस् से संस्कृत में तेजस्विन् बनता है, पर हिन्दी में वह तेजस्वी हो जाता है। इसी प्रकार ग्राहिन्, साक्षिन् आदि हिन्दी में ग्राही, साक्षी आदि हो जाते हैं। संस्कृत में विशेषण रूप अद्य और संज्ञा रूप अद्यं होता है; पर हिन्दो में दोनों का रूप अद्य ही रहता है; अन्तिम अनुस्वार छोड़ दिया जाता है। यही बात पद्म और पद्मं सरीखे शब्दों के सम्बन्ध में भी है। इसी नियम के अनुसार संस्कृत का

रासकं हिन्दी में रासक और सूत्रं हिन्दी में सूत्र हो जाता है। कुछ संस्कृत संज्ञाओं के अन्त में जो विसर्ग रहता है, वह भी हिन्दी में नहीं आता। संस्कृत के उपहारः, दासः, देशः और सूर्यः हिन्दी में उपहार, दास, देश और सूर्य हो जाते हैं। पर कुछ शब्दों के अन्त में जो तः प्रत्यय लगता है, वह हिन्दी में ज्यों का त्यों रहता है, उसका विसर्ग नहीं छोड़ा जाता। जैसे—कायतः, न्यायतः, वस्तुतः आदि। ये सब बातें व्याकरण से सम्बन्ध रखती हैं; और अच्छे कोशकार अपने व्याकरण-ज्ञान के आधार पर स्वयं समझ सकते हैं। आगे बढ़ने से पहले यहाँ प्रसंगवश हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि अन्य भाषाओं के शब्द भी बहुत कुछ इसी प्रकार रूप बदलकर हिन्दी में आते हैं। फारसी का 'चः' प्रत्यय अल्पार्थक है जो हिन्दी में पुंलिंग रूप में 'चा' और स्त्रीलिंग रूप में 'ची' हो जाता है। फारसी में देग से देगचः बाग से बागचः, सन्दूक से सन्दूकचः बनता है। हिन्दी में ये शब्द पुंलिंग अल्पार्थक और स्त्रीलिंग अल्पार्थक में क्रमात् देगचा-देगची, बगीचा-बगीची, सन्दूकचा-सन्दूकची आदि हो जाते हैं। यहाँ हम यही संकेत कर देना यथेष्ट समझते हैं कि हिन्दी कोशों में शब्द उन्हीं रूपों में लिये जाने चाहिएँ, जिन रूपों में वे हिन्दी में प्रचलित हों। हाँ, व्युत्पत्तिवाले कोष्ठक में उनके शुद्ध संस्कृत या दूसरी भाषाओं के मूल रूप दिखला देना आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में एक और बात बतला देना भी आवश्यक जान पड़ता है। संस्कृत में कुछ शब्द बिना किसी अर्थ-भेद के कभी दो-दो और कभी तीन-तीन रूपों में भी लिखे जाते हैं। उसमें कोश भी लिखा जाता है और कोष भी। वेश और वेष, कलश और कलस, प्रतिकार और प्रतीकार, हनु और हनू, दोनों रूप चलते हैं। कहीं कहीं शब्दों के तीन तीन रूप भी होते हैं। जैसे—पृथवी, पृथिवी और पृथ्वी; मुशल, मुषल और मुसल;

सारि, सारिका और सारी आदि। ओषधि तो ठीक है ही, पर उसी अर्थ में औषधी, औषधि और औषधी भी ठीक हैं[१]। कोशकार को इस प्रकार के सभी रूप ग्रहण करने पड़ते हैं; हाँ विस्तार-भय से वह अर्थ आदि उसी रूप के आगे देता है, जो साहित्य में सब से अधिक प्रचलित हो; तथा शेष रूपों के आगे वह गृहीत मुख्य रूप का अभिदेश मात्र कर देता है।

संस्कृत में प्रायः दो शब्दों के योग से सन्धि के नियमों के अनुसार एक नया यौगिक शब्द बना लिया जाता है। जैसे—देव + उपासना से देवोपासना, सुर+ईश से सुरेश आदि। फिर आगे चलकर ऐसे शब्दों के दोनों अंगों के पर्यायों के आधार पर भी कुछ नये शब्द बनते हैं; जैसे—सुरेश से सुरेश्वर, सुरराज, सुरपति, देवपति, देवराज आदि; अथवा कोपानल, क्रोधानल, रोषानल आदि। उक्त प्रकार के शब्दों में संज्ञाएँ भी होती हैं और विशेषण भी। संज्ञाएँ तो प्रायः अधिक प्रचलित हो जाती हैं, पर विशेषण कम प्रचलित होते हैं। संज्ञाएँ होती भी विशेषणों की अपेक्षा प्रायः कम हैं; और विशेषण आवश्यकतानुसार नये नये बना भी लिये जाते हैं। ंज्ञाओं में से कोशों में प्रायः वही ली जाती हैं, जो बहुत अधिक प्रचलित तथा प्रसिद्ध होती हैं। जैसे—उत्तराधिकारी, पदाधिकारी आदि।

---

१ 'औषध' शब्द अर्थ के विचार से भी, लिंग के विचार से भी और शब्द-भेद के विचार से भी 'ओषधि' से अलग है। ओषधि तो किसी ऐसी जड़ी-बूटी को कहते हैं जिसमें कोई रोग-नाशक गुण हो और वह स्त्री-लिंग संज्ञा है। पर 'औषध' एक तो विशेषण है, जिसका अर्थ है—ओषधि-सम्बन्धी। दूसरे, वह संज्ञा भी है, पर पुंलिंग संज्ञा है और उसका अर्थ है—कई ओषधियों के मेल या योग से बना हुआ कोई रोग-नाशक पदार्थ। इसी से औषधालय शब्द बनता है जो उस स्थान का वाचक है, जहाँ बनी-बनाई या तैयार दवाएँ मिलती हैं।

देव-वर्ग, सुर-वर्ग सरीखे शब्द नहीं लिये जाते। विशेषण प्रायः इसी लिए कम लिये जाते हैं कि उनकी संख्या बहुत अधिक होती या हो सकती है। उदाहरणार्थ—'उचित' शब्द अनेक शब्दों के अन्त में लगकर नये विशेषण बनाता है; जैसे—क्षत्रियोचित, राजोचित, वीरोचित, समयोचित आदि। गमनोद्यत, पानेच्छुक, मंगलास्पद, संदेहात्मक, रक्षार्थ, मंत्रणार्थ, लाभार्थ, सहायतार्थ, सेवार्थ, फलदायक, लाभदायक, सुखदायक आदि भी इसी प्रकार के शब्द हैं। ऐसे शब्द प्रायः इसी लिए नहीं लिये जाते कि उनकी संख्या का कोई अन्त नहीं होता। ऐसे शब्दों के अर्थ जिज्ञासुओं को अपनी बुद्धि से सन्धि-विच्छेद करके स्वयं लगाने पड़ते हैं।

उक्त प्रकार की अनेक संज्ञाओं के स्त्री० रूप भी होते हैं। जैसे—देवराज-देवराज्ञी, सुरेश्वर-सुरेश्वरी, वासव-वासवी, भव-भवानी, शंकर-शंकरी आदि। ऐसे अवसरों पर मुख्य विवेचन इन्द्र और इन्द्राणी या शिव और पार्वती के अन्तर्गत ही होता है। देवराज या महेश्वर सरीखे शब्द लेकर उनके आगे उनके स्त्रीलिंग रूप भी दे दिये जाते हैं, और यह बतला दिया जाता है कि यह शब्द इन्द्र या शिव का वाचक है। संस्कृत व्याकरण के नियमों के अनुसार संबोधन कारक में शब्दों के कुछ बदले हुए रूप भी होते हैं; जैसे—आशे, मुने, राजन्, सखे आदि। कुछ अवस्थाओं में यौगिक शब्द बनाने के समय किसी शब्द के रूप में कुछ विकार भी होता है, जैसे—उन्नत-मना, महामना आदि में मन का रूप 'मना' हो जाता है। ऐसे शब्द-प्रकार या उनमें होनेवाले विकार व्याकरण के क्षेत्र के अंतर्गत होने के कारण शब्द-कोश के क्षेत्र के बाहर होते हैं और उसमें नहीं लिये जाते। हाँ, उनसे युक्त जो विशेष प्रचलित या प्रसिद्ध शब्द होते हैं, वे अवश्य ग्राह्य होते हैं।

ऊपर हमने संस्कृत शब्दों के रूपों के प्रसंग में फारसी के एक प्रत्यय और उससे बननेवाले दो-तीन शब्दों की चर्चा की है। हमारे यहाँ के प्राचीन कवि जिस प्रकार संस्कृत शब्दों के रूप बहुत-कुछ बदल देते थे, उसी प्रकार बल्कि उससे भी कुछ अधिक वे अरबी-फारसी के शब्दों के रूप बदला करते थे; और उन्हें हिन्दी साँचे में ढाला करते थे। कबीर, तुलसी, सूर आदि पुराने कवियों ने भी और पद्माकर, बिहारी, भूषण आदि बाद के कवियों ने भी अरबी, फारसी शब्दों के रूप बहुत बदले हैं; और कहीं कहीं ऐसे रूप बदले हैं कि उनके मूल तक पहुँचना कठिन हो जाता है। ऐसे शब्दों में अरदास (अर्जदाश्त), इकतीआर (अख्तियार), इलाम (ऐलान), उजू (वजू), कदूरी (कदूरत), कतेब या कितेब (किताब), खुआर (ख्वार), चकत्ता (चग-ताई), चराक (चिराग), नरजा (नाराज), पैकाबर (पैगम्बर), भिसत (बहिश्त), मसीत (मसजिद), मिहरामति (मरहमत), आदि शब्द बहुत प्रसिद्ध हैं जो प्रायः हिन्दी कविताओं में मिलते हैं। इनके सम्बन्ध में सिद्धान्त यही होना चाहिए कि जो शब्द जिस रूप में शिष्ट-सम्मत और प्रचलित हो, उसी के अंतर्गत अर्थ, उदाहरण, विवरण आदि दिये जाने चाहिएँ। शेष रूपों में उन रूपों का अभिदेश मात्र होना चाहिए, जो मानक माने गये हों।

कोशों में देने के लिए शब्दों के रूप स्थिर करने के समय कई और बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। जो रूप सब से अधिक प्रचलित और शिष्ट-सम्मत हों, वही मानक माने जाने चाहिएँ; और उन्हीं के अन्तर्गत अर्थ, विवरण आदि होने चाहिएँ। यदि एक ही शब्द की कई अक्षरियाँ मिलती हों तो उन में से अधिक प्रचलित और सुभीते की अक्षरी मानक मानी जानी चाहिए। हिन्दी के बहुत-से शब्द ऐसे हैं जो कहीं रेफ से और कहीं पूरे र से, कहीं संयुक्त वर्ण से और कहीं सस्वर वर्ण से लिखे

जाते हैं; जैसे—खर्च और खरच, अक्सर और अकसर, उल्टा और उलटा आदि। ऐसे शब्द लिखाई, छपाई, पढ़ाई आदि के सुभीते के विचार से खरच, अकसर, उलटा आदि रूपों में ही लेना ठीक होगा। पर संस्कृत शब्द यथा-साध्य अपने मूल और शुद्ध रूप में ही लिये जाने चाहिएँ। तत्त्व महत्त्व आदि रूप लेना ही ठीक है, तत्व, महत्व आदि नहीं।

कोशकार का काम शब्दों के शुद्ध रूप या अक्षरी बतलाने तक ही सीमित नहीं रहता। शब्द का शुद्ध उच्चारण बतलाना भी उसका कर्त्तव्य होता है। यह ठीक है कि देव-नागरी लिपि में जो कुछ लिखा जाता है, वही पढ़ा भी जाता है; परन्तु कभी-कभी कुछ लोगों, विशेषतः अन्य भाषा-भाषियों को उच्चारण-सम्बन्धी कुछ कठिनता होती ही है। ऐसे लोगों के सुभीते के विचार से कनखजूरा, कनपटी, गलतकिया, दुभाषिया, मनचला आदि रूप न रखकर कन-खजूरा, कन-पटी, गल-तकिया, दु-भाषिया, मन-चला आदि रूप देने चाहिएँ; नहीं तो सम्भव है, कुछ लोग भूल से उनका उच्चारण कनख-जूरा, कनप-टी, गलत-किया, दुभा-षिया, मनच-ला आदि समझ लें। यह ठीक है कि जिन कोशों में शब्दों के आगे निरुक्ति या व्युत्पत्ति रहती है, उनमें उस निरुक्ति या व्युत्पत्ति के द्वारा भी शुद्ध उच्चारण का बहुत-कुछ पता चल जाता है। फिर भी कोशकार को आरम्भ में मूल रूप में शब्दों की अक्षरी भी ऐसे ढंग से देनी चाहिए कि उसे देखते ही अनजान आदमी भी उसका बिलकुल ठीक उच्चारण कर सके।

६

शब्द-क्रम

कोशों में शब्द कुछ विशिष्ट प्रकार के क्रम से रखे जाते हैं। चाहे किसी प्रकार का कोश या भंडार हो, यदि उसमें की सब चीजें एक निश्चित क्रम से और व्यवस्थित रूप से न रखी हों, तो वह कूड़ेखाने के दरजे में चला जायगा। बहुत-सी चीजों के अव्यवस्थित ढेर में न तो कोई चीज अच्छी तरह देखी या पहचानी जा सकती है, न जल्दी ढूँढी जा सकती है। यदि शब्द-कोश में भी शब्दों का कोई ठीक, निश्चित और व्यवस्थित क्रम न हो तो जिज्ञासुओं के लिए उसका उपयोग करना बहुत ही कठिन क्या, प्रायः असम्भव हो जाय। इसी लिए कोशकार को शब्दों का

कोई न कोई क्रम निर्धारित करना पड़ता है; और आदि से अन्त तक उस क्रम का ठीक तरह से निर्वाह या पालन करना पड़ता है।

शब्द-कोशों में शब्दों के क्रम अनेक प्रकार के होते हैं। हमारे यहाँ प्राचीन काल में वस्तुओं के वर्ग या विभाग बना लिये जाते थे; और एक वर्ग के सब शब्द एक साथ दे दिये जाते थे। संस्कृत का सुप्रसिद्ध अमर-कोश इसी प्रकार बना है। उसमें देवता के सब पर्याय एक साथ, एक जगह और 'इन्द्र' के सब पर्याय एक साथ, दूसरी जगह दे दिये हैं। दिशावाचक सब शब्द एक जगह हैं तो नदी या समुद्र के वाचक सब शब्द एक जगह। हेमचन्द्र-कृत देशी नाम-माला भी कुछ इसी प्रकार की चीज है। इसी ढंग पर हिन्दी में नन्ददासजी ने नाम-माला बनाई थी; और पं० श्रीकृष्ण शुक्ल ने पर्यायवाची कोश बनाया। वैद्यक निघण्टुओं में भी ओषधियोंवाली वनस्पतियों के वर्ग, कर्पूरादि वर्ग, हरीत्यकादि वर्ग, कन्द वर्ग आदि निश्चित करके एक-एक वनस्पति, कन्द या फल के सब नाम, गुण आदि दे दिये जाते हैं। ऐसे कोशों से केवल यही जाना जा सकता है कि अमुक वस्तु के और क्या-क्या नाम हैं अथवा अमुक संज्ञा के स्थान पर और किन-किन संज्ञाओं का प्रयोग किया जा सकता है। इनके सिवा इसी ढंग पर कुछ विशिष्ट शब्दों के अलग अलग अर्थ बतलाने के लिए भी कोश बनते थे; जैसे—नन्ददासजी की अनेकार्थ-मंजरी है। हमारे यहाँ एक-एक अक्षर या वर्ण के भी कुछ अर्थ माने गये हैं, जिनका एकाक्षरी कोश भी है।

कोशों का यह क्रम बहुत पुराना है। इसमें त्रुटि यह है कि भाषा में प्रचलित सभी प्रकार के शब्द इसमें नहीं आते—कुछ विशिष्ट प्रकार के शब्द ही आते हैं। फिर वे सब शब्द तब तक सहज में ढूँढे नहीं जा सकते, जब तक कोश के अन्त में उन सब शब्दों की अनुक्रमणिका न हो। अर्थात् कोश तो रहता ही है; उस पर

अनुक्रमणिका का एक और भार लद जाता है। आज-कल पाश्चात्य देशों के कोशों के ढंग पर इसके स्थान पर एक नया क्रम चला है। वह है अक्षर-क्रम। इसमें वर्ण-माला के सब अक्षरों या वर्णों के अनुसार शब्दों का क्रम लगाया जाता है। 'अ' से आरंभ होने-वाले सब शब्द एक जगह; 'क' से आरंभ होनेवाले शब्द एक जगह; 'स' से आरंभ होनेवाले शब्द एक जगह। इसमें जिज्ञासुओं को शब्द ढूँढ़ने में अपेक्षाकृत सुगमता होती है—व्यर्थ इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता। इस क्रम के प्रयोग से पुराने ढंग के कोशों की और एक त्रुटि भी पूरी हो जाती है। इसके प्रयोग से भाषा में प्रचलित सभी प्रकार के शब्द (संज्ञाओं के सिवा अव्यय, क्रियाएँ, विशेषण, क्रिया-विशेषण आदि भी) सहज में यथा-स्थान आ जाते हैं। पर यह अक्षर-क्रम भी कई कारणों से (कम से कम संस्कृत और हिन्दी में) एक-सा नहीं होता। उसमें भी भाषा की प्रवृत्ति और लिपि के प्रकार-भेद के विचार से कुछ अन्तर होते हैं। प्रायः बड़े-बड़े विद्वान् अपने अपने विचारों और सिद्धान्तों के अनुसार क्रम में कई प्रकार के छोटे-मोटे अन्तर स्थिर कर लेते हैं, और उन्हीं के अनुसार अपने कोश बनाते हैं।

प्रकृति के विचार से संस्कृत एक प्रकार की भाषा है, हिन्दी कुछ दूसरे या भिन्न प्रकार की। संस्कृत भाषा धातु-प्रधान है। हिन्दी उस संस्कृत की अनेक पीढ़ियों के बाद की सन्तान है; और बहुत-कुछ विकृत तथा विकसित होने के कारण संस्कृतवाली धातु-प्रधानता से बहुत दूर जा पड़ी है। संस्कृत में सैंकड़ों धातुएँ हैं, जिनमें उपसर्ग और प्रत्यय लगाने से अनेक नये-नये शब्द बनते हैं। उदाहरण के लिए 'गम्' धातु है, जिससे गत, गति गत्वर, गन्तव्य, गमन, गम्य आदि बहुत-से शब्द बनते हैं। फिर गत से आगत, विगत आदि, गति से दुर्गति, सद्गति आदि,

गमन से आगमन, अनुगमन आदि और इससे भी आगे आगत से स्वागत और अनुगमन से अनुगामी, और फिर अनुगामी से भी अनुगामिता आदि शब्द बनते हैं; और इस प्रकार शाखाएँ-प्रशाखाएँ निकलती चलती हैं। संस्कृत के अच्छे कोशकार प्रायः एक सीमा तक इन्हीं धातुओं के आधार पर चलते हैं; और उनके अन्तर्गत शब्दों के भिन्न भिन्न रूप या विकार देते हैं। पर कोश का सारा काम इस ढंग से पूरा नहीं हो सकता; क्योंकि हजारों-लाखों शब्दों को थोड़ी-सी धातुओं के साथ बाँध रखना ठीक भी नहीं और सम्भव भी नहीं। साधारण पाठक यह नहीं समझ सकते कि अमुक शब्द किस धातु के अन्तर्गत ढूँढ़ना चाहिए। उनके सुभीते के लिए बहुत-से ऐसे शब्द, जो धातुओं से बहुत दूर जा पड़ते हैं, यथा-स्थान वर्ण-क्रम के विचार से ही रखे जाते हैं। यही क्रम आज-कल सब से अच्छा समझा जाता है। विशेषतः हिन्दी के लिए तो यह क्रम इसलिए और भी अधिक उपयुक्त है कि वह धातु-प्रधान भाषा नहीं है। अधिकतर हिन्दी शब्दों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध संस्कृत शब्दों से तो अवश्य है, पर धातुओं से उनका उतना या वैसा सम्बन्ध नहीं है।

अब लिपि-प्रकार के अनुसार होनेवाले अन्तर का विचार कीजिए। संस्कृत व्याकरण के नियम के अनुसार कुछ विशिष्ट वर्ण जब रेफ के नीचे आते हैं, तब द्वित्त्व हो जाते हैं; जैसे—आर्य्य, ऐश्वर्य्य, कर्म्म, धर्म्म आदि। पर हिन्दी में वे आर्य, ऐश्वर्य कर्म, धर्म आदि रूपों में ही लिखे जाते हैं। संस्कृत कोशों में भी ऐसे शब्द उन्हीं रूपों में रखे जाते हैं, जिन रूपों में वे हिन्दी में लिखे जाते हैं। ऐसा केवल सुभीते के विचार से होता है; अतः इसके सम्बन्ध में विशेष विचार की आवश्यकता नहीं। पर कुछ बातें विशेष विचारणीय भी हैं। देव-नागरी लिपि में पंचम वर्ण तो हैं ही; पर हिन्दी में उनका उस प्रकार का पूरा उपयोग नहीं होता,

जिस प्रकार का संस्कृत में होता है अथवा संस्कृत व्याकरण के नियमों के अनुसार होना चाहिए। संस्कृत में शुद्धता के विचार से कङ्कण, चञ्चल, भाण्ड आदि रूप रहते हैं ; पर हिन्दी में सुभीते और स्पष्टता के विचार से कंकण, चंचल, भांड आदि लिखने की प्रथा है। हिन्दी में संस्कृत के कष्ट, नष्ट, भ्रष्ट आदि शब्द तो ज्यों के त्यों लिखे जाते हैं, पर ठेठ हिन्दी या दूसरी भाषाओं के शब्द लिखने में ट, ठ से पहले मूर्द्धन्य ष संयुक्त करने के बदले दन्त्य स ही मिलाने की प्रथा है ; जैसे—लस्टम पस्टम, कनस्टर, मास्टर आदि। भले ही पहले कुछ लोग कनष्टर, माष्टर आदि लिखते रहे हों, पर अब कोई ऐसा नहीं लिखता। अब तो लोग 'निघण्टु' तक को 'निघन्टु' लिखने लग गये हैं। अनेक संस्कृत कोशों में भी पंचम वर्ण के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग होता है, पर उनमें वर्ण-वर्ग का ध्यान अवश्य रखा जाता है। अर्थात् आ के बाद जब क-वर्ग के पहले चारों वर्ण आ चुकते हैं, तब उसके पंचमवर्ण की जगह अनुस्वार आता है। इस नियम के अनुसार आकार, आख्या, आघात आदि शब्दों के बाद आङ्ग, आङ्गिक आदि शब्दों की बारी आती है, भले ही वे वहाँ लिखे जाते हों—आंग, आंगिक आदि के रूप में। शब्दों के बीच के वर्णों के लिए भी इसी नियम का पालन होता है। आगन्तुक का स्थान आगत के बाद और आगमन से पहले रहता है। उनमें अचल, अजिर आदि के बाद अंचल के रूप में अञ्चल आता है; और मकर, मख, मघा आदि के बाद मंगल के रूप में मङ्गल रहता है। अर्थात् जब एक वर्ण-वर्ग के चारों वर्ण आ चुकते हैं, तब उसका पंचम वर्ण अनुस्वार के रूप में आता है। य, र, ल, व, श, ष, स और ह से पूर्व का अनुस्वार, क्रम के विचार से सबसे पहले लिया जाता है, जिससे कांस्य तो पहले आ जाता है और काक उसके बाद चला जाता है। अर्थात् संस्कृत कोशों

में पंचम वर्ण के स्थान पर अनुस्वार चलता तो है, पर वह बहुत-सी जगहों में बँट जाता है; और फलतः यह क्रम साधारण जिज्ञासुओं के लिए बहुत कुछ जटिल तथा दुरूह बन जाता है। कदाचित् इसी जटिलता और दुरूहता से बचने के लिए सुप्रसिद्ध विद्वान् रॉल्फ टर्नर ने अपने नेपाली अँगरेजी कोश में मुख्यतः शब्दों के उच्चारण का विशेष ध्यान तो अवश्य रखा है, पर अनुस्वार को फिर भी प्राथमिकता दी है। उसमें कंकर, कंचन, कंजूस, कंटक आदि रूप आरम्भ में रखे हैं; पर उनके आगे कङ्कर, कञ्चन, कञ्जूस, कण्टक आदि रूप अभिदिष्ट हैं, जहाँ उनके अर्थ और विवरण दिये गये हैं। पर वस्तुतः कञ्चन, कण्टक आदि लिखनेवाले लोग भी देश-भाषा के शब्द कंकर, कंजूस आदि रूपों में ही अर्थात् अनुस्वार से ही लिखते हैं।

हिन्दी के प्रारम्भिक कोशकारों ने भी कुछ इसी ढंग पर चलने का प्रयास किया था। हिन्दी का जो पहला मुद्रित कोश मेरे देखने में आया, वह गया ट्रेनिंक स्कूल के हेड मास्टर श्री राधालाल कृत 'शब्द-कोश' था, जो सन् १८७३ में काशी से प्रकाशित हुआ था। इसमें ठेठ हिन्दी के शब्दों में भी अधिकतर पंचम वर्ण का ही प्रयोग हुआ है; जैसे—अङ्गूठी, अङ्गोछा आदि; और ऐसे शब्द कवर्ग के अन्त में आये हैं। पर कहीं कहीं अनुस्वार का भी प्रयोग हुआ है। जैसे—अचंभा। कोशकार के सिद्धान्त के अनुसार इसका रूप अचम्भा होना चाहिए था; और यह शब्द प-वर्ग के अन्त में आना चाहिए था, पर आया है च-वर्ग के अन्त में। फिर आगे चलकर क-वर्ग के आरम्भ में ही कंकर, कंगन, कंगाल, कंजूस, कंस आदि शब्द आये हैं; और तब 'ककड़ी' आदि के बाद कंग, कंकण आदि हैं। फिर कहीं कंदुक है तो कहीं कन्ध। इससे सूचित होता है कि कोशकार को पंचम वर्ण के अनुसार चलने में कुछ कठिनता प्रतीत हुई थी। इसमें कहीं कहीं अनुस्वार

और चन्द्र-विन्दु के भेद का भी ध्यान रखा गया है। जैसे—'कँवल' तो चन्द्र-विन्दु से है, पर 'अँधेरा' का रूप 'अन्धेरा' ही मिलता है। सन् १८९० में श्री मंगीलाल का जो 'मंगल कोश' लखनऊ से प्रकाशित हुआ था, उसमें भी कहीं अनुस्वार है तो कहीं पंचम वर्ण। उसमें अंक, अङ्कना, अंकुर आदि दोनों प्रकार के रूप मिलते हैं। 'अँतरिया' के बदले 'अन्तरिया' रूप लिया गया है, और 'अँगूठा' की जगह 'अङ्गूठा' है। पं० श्रीधर त्रिपाठी का 'श्रीधर भाषा कोश' सन् १८९४ में लखनऊ से प्रकाशित हुआ था। उसमें अंक, अँखियाँ आदि भी हैं और अङ्गड़ाई, अङ्गोछा आदि भी। पर इस प्रकार के शब्द अ के बाद क-वर्ग समाप्त हो चुकने पर और च-वर्ग का आरम्भ होने से पहले रखे गये हैं। नागरी और हिन्दी के बहुत बड़े प्रचारक तथा समर्थक पं० गौरीदत्त शास्त्री[१] ने जो 'गौरी नागरी कोश' सन् १९०१ में प्रकाशित किया था, उसमें भी बहुत कुछ उक्त प्रकार का ही क्रम मिलता है। उसमें अङ्क, अञ्चल, अन्तरीप, अम्बर आदि शब्द शुद्ध संस्कृत रूप में लिये गये हैं और चतुर्थ वर्ण के बाद रखे गये हैं। अन्धेर, इन्कार, इन्च सरीखे हिन्दी और परकीय शब्द तो आधे 'न' से हैं और 'न' की मात्राएँ समाप्त होने के बाद रखे गये हैं, पर अँगड़ाई, अंगूर सरीखे शब्द 'औ' के बाद अर्थात् स्वर-क्रम के विचार से बिलकुल अन्त में दिये गये हैं। 'अञ्जलि' शब्द च-वर्ग के अन्त में भी है, और 'औ' के बाद 'अंजलि' रूप में भी। अर्थात् उसमें भी पंचम वर्ण और अनुस्वार का न तो कोई ठीक भेद है, न कोइ एक स्थान। पर ये सब हिन्दी के आरम्भिक युग की बातें हैं जो आने-वाली पीढ़ियों के लिए रास्ता बनाने की तरह थीं।

---

१ पं० गौरीदत्त जी हिन्दी और नागरी के इतने निष्ठ भक्त थे कि अपने मित्रों से भेंट होने पर 'जय राम जी की' या 'जय श्री कृष्ण' आदि की जगह 'जय नागरी की' कहा करते थे।

यहाँ हम एक बात और स्पष्ट कर देना चाहते हैं। वह यह कि आरम्भिक हिन्दी कोशों में शब्द-क्रम रखने की यह प्रणाली पहले के कुछ संस्कृत-अँग्रेजी तथा हिन्दी-अँगरेजी कोशों से आई थी। सन् १८४६ में श्री जे० टी० थाम्पसन का एक हिन्दी-अँगरेजी कोश निकला था। उसके बाद सन् १८७० में पं० रामजसन का प्रसिद्ध संस्कृत-अँगरेजी कोश और सन् १८७५ में श्री जे० डी० बेट का प्रसिद्ध हिन्दी-अँगरेजी कोश छपा था। उक्त कोशों के शब्द-क्रम में अनुस्वार और पंचम वर्ण के विचार से थोड़ा-बहुत अन्तर था। पं० रामजसन के कोश में संस्कृत रूपों के आधार पर अनुस्वार से लिखे जानेवाले शब्द पहले थे; और तब प्रत्येक वर्ग के बाद उनके पंचम वर्णवाले शब्द थे। बेट कृत हिन्दी-अँगरेजी कोश में भी बहुत कुछ यही क्रम था। उसमें भी बराबर अनुस्वार से लिखे जानेवाले शब्द पहले आये थे; और अन्तरिक्ष, अन्तिम आदि शब्द त-वर्ग के बाद और अम्बा, अम्बरीष आदि शब्द प-वर्ग के बाद थे। अर्थात् जो शब्द जिस रूप में लिखे जाते हैं, उसी रूप के विचार से उनका क्रम लगा है। और इन्हीं लोगों के दिखलाये हुए मार्ग पर हिन्दी के आरम्भिक कोशकार चले थे। संयुक्त पंचम वर्ण का पूरा परित्याग और अनुस्वार का अंगीकार पहले-पहल हिन्दी शब्द-सागर में किया गया था।

हिन्दी शब्द-सागर के सम्पादन का कार्य आरंभ करने के समय संस्कृत, हिन्दी, बँगला आदि के कई कोशों के क्रम ध्यान-पूर्वक देखे गये थे; और उनके आधार पर शब्द-क्रम के लिए कुछ निश्चित नियम बनाने और सिद्धान्त स्थिर करने का प्रयत्न किया गया था। उस समय पंचम वर्ण और अनुस्वार का सब से जटिल और विकट प्रश्न भी सामने आया था। शब्द-सागर के प्रधान सम्पादक स्व० डा० श्यामसुन्दरदास जी बहुत पहले से हिन्दी में से पंचम वर्ण उठा देने के पक्ष में थे। वे प्रायः अपने

पत्रों, लेखों आदि में पंचम वर्ण के स्थान पर अनुस्वार का ही प्रयोग करते थे। स्वयं डा० श्यामसुन्दरदास जी की मित्र-मंडली में इस बात की हास्यात्मक चर्चा हुआ करती थी कि बाबू साहब और सब जगह तो पंचम वर्ण की जगह अनुस्वार ही लिखते हैं, पर अपना नाम 'श्यामसुन्दरदास' ही लिखते हैं, 'श्यामसुंदर दास' नहीं लिखते! कोई पचास वर्ष पहले जब नागरी प्रचारिणी सभा ने लिपि सम्बन्धी कुछ नियम निर्धारित करने के लिए एक उप-समिति बनाई थी, तब उसने भी डा० श्यामसुन्दरदास के आग्रह पर अनुस्वारवाली बात मान ली थी; और सभा के प्रकाशनों में यही परिपाटी चलाने का परामर्श दिया था। पर पुराने अभ्यास के कारण सभा के प्रकाशनों में सब जगह इस नियम का पूरा पालन नहीं होने पाता था। जो हो, कोश उप-समिति ने सब बातों का विचार करके शब्द-सागर के लिए अनुस्वार-प्रधान प्रणाली ग्रहण करना निश्चित किया था[१]। इसी समय से हिन्दी कोशों में अनुस्वार की प्रधानता हुई थी, जो आज तक बराबर बढ़ती ही जाती है। शब्द-कोशों की इस अनुस्वार-प्रधान प्रणाली के सम्बन्ध में कुछ लोगों का यह आक्षेप है कि इसके कारण हिन्दीवाले अपने यहाँ से पंचम वर्ण का बहिष्कार करने की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। पर मेरी समझ में यह कथन निराधार है। पंचम वर्ण का परित्याग तो लोग केवल लिखाई और छपाई के सुभीते के विचार से करते हैं, शब्द-कोशों के अनुकरण पर नहीं। शब्द-कोशों में यह प्रणाली इसी

---

१. कोश उप-समिति के सामने एक यह प्रस्ताव भी आया था कि ब और व के सब शब्द भी उसी प्रकार एक साथ मिलाकर व के अन्तर्गत रखे जायँ, जिस प्रकार वे प्रायः बँगला कोशों में रहते हैं। पर इससे बहुत बड़ी गड़बड़ी होने और भ्रान्ति फैलने की आशंका थी; इस-लिए उप-समिति ने यह प्रस्ताव अमान्य कर दिया था।

लिए ग्राह्य और मान्य हो रही है कि इससे लोगों को उनमें से शब्द ढूँढ़ने में बहुत सुभीता होता है।

यह ठीक है कि हमारी वर्ण-माला में अनुस्वार और विसर्ग का स्थान स्वरों के अन्त में और व्यंजनों का आरम्भ होने से पहले आता है। पर यदि शब्द-कोशों में इस बात का ध्यान रखना जाय तो शब्दों का क्रम इतना विकट हो जाय कि बहुत-से शब्द जल्दी ढूँढ़े न मिलें और जिज्ञासुओं का बहुत-सा समय उन्हें ढूँढ़ने में ही नष्ट हो जाय। बात यह है कि अनुस्वार का प्रयोग व्यंजनों के साथ तो होता ही है, स्वरों के साथ भी होता है। क्रम तो उसी का लगाया जा सकता है, जिसका कोई निश्चित स्थान हो; और अनुस्वार का हमारे लेखन-क्षेत्र में कोई निश्चित स्थान नहीं है, वह बहुत-सी जगहों में लगता और लग सकता है। कदाचित् उसकी इसी व्यापकता का ध्यान रखकर वर्ण-माला को वैज्ञानिक और तर्क-संगत रूप देने के लिए उसमें ङ और ञ की सृष्टि की गई थी; और नहीं तो इनका वैसा कोई उपयोगी, स्पष्ट और स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, जैसा ण, न या म का है। पर कोशों का शब्द-क्रम स्थिर करते समय इन्हें सहज में और सुगमतापूर्वक वह स्थान नहीं दिया जा सकता, जो उन्हें हमारी वर्ण-माला के क्रम में मिला है। मान लीजिए कि आपके सामने किंजल्क, कुंद और कौंध सरीखे कुछ शब्द हैं। कौंध को तो आप वर्ण-माला के क्रम के विचार से कौपीन, कौमार, कौशाम्बी आदि के बाद रख देंगे; पर किंजल्क और कुंद कहाँ रखेंगे? यदि उन्हें किञ्जल्क और कुन्द रूप में क के बाद च-वर्ग या त-वर्ग के अन्त में रखेंगे, तो वही पंचम वर्णवाली प्रणाली आ जायगी। इसमें लिखाई, छपाई आदि की जो कठिनता होगी, उसके अतिरिक्त पंचम-वर्णवाले शब्द कई जगहों में बँट जायँगे। फिर ईंधन, उन्हें, कहाँ, यहीं सरीखे शब्द कहाँ जायँगे? अनुस्वारवाले शब्द

इस तरह बीसियों जगह बँट जायँगे; और जिज्ञासु जलदी अभीष्ट शब्द तक पहुँच न सकेंगे। इन्हीं सब कठिनाइयों से बचने के लिए अनुस्वार का प्रचलन हुआ है और कोशों में इन्हें एक जगह रखने की परिपाटी चली है।

अनुस्वार और पंचम वर्ण के प्रयोग के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न कोशों में कुछ विलक्षणताएँ भी मेरे देखने में आई हैं। संस्कृत के कुछ कोशों में तो सन्निधान, सन्निपात, सन्निवेश आदि रूप मिलते हैं और कुछ कोशों में संनिधान, संनिपात, संनिवेश आदि रूप। पहले वर्ग के कोशों में जहाँ सम्भ्रम, सम्मति, सम्मान, सम्मुख[1] आदि रूप मिलते हैं, वहाँ दूसरे वर्ग के कोशों में संभ्रम, संमति, संमान, संमुख आदि रूप मिलते हैं। हिन्दी शब्द-सागर में जहाँ सन्निपात, सम्मान, सम्मेलन आदि रूपों में संस्कृत शब्द लिये गये हैं, वहाँ भी संन्यास और संन्यासी सरीखे अनुस्वार-युक्त रूप मिलते हैं। हिन्दी और अरबी-फारसी के चुन्नी, पन्ना, सन्नाटा, सन्नाह, सम्मन सरीखे शब्द भी द्वित्त्व न और द्वित्त्व म से ही लिये गये हैं; और उनके पहलेवाले हल् न या म के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग नहीं किया गया है। मुझे खेदपूर्वक यह मानने में कुछ भी संकोच नहीं है कि प्रामाणिक हिन्दी कोश में भी बहुत-कुछ इसी त्रुटिपूर्ण क्रम-प्रणाली का आश्रय लिया गया

---

१. प्रसंगवश यहाँ 'सम्मुख' के सम्बन्ध में एक बात बतला देना आवश्यक जान पड़ता है। वह यह कि कुछ लोग हिन्दी में भूल से इसे सन्मुख भी लिख जाते हैं। 'सम्मुख' शब्द संस्कृत में अव्यय भी है और विशेषण भी; पर 'सन्मुख' अव्यय या विशेषण के रूप में कोई शब्द नहीं है। हाँ, वह संज्ञा हो सकता है; और उस दशा में उसका अर्थ होगा—अच्छा या सुन्दर मुख। पर इस रूप और अर्थ का 'सम्मुख' से अर्थ-साम्य या सम्बन्ध नहीं है। पुरानी कविताओं में इसका जो 'सनमुख' रूप मिलता है, उसी से कुछ लोगों ने भूल से 'सन्मुख' रूप चलाया है।

है। पर कहीं कहीं कुछ विषमता दिखाई देने पर मैंने इसमें कुछ परिवर्त्तन भी किये हैं। शब्द-सागर में इनकार, इनसान आदि रूप हैं, पर प्रामाणिक कोश में मैंने इन्कार, इन्सान आदि रूप लिये हैं। शब्द-सागरमें 'जिंस' रूप लिया गया है, पर प्रामाणिक हिन्दी-कोश में 'जिन्स' रखा गया है। हिन्दी के अन्य कोशों में प्रायः शब्दसागर का ही अनुकरण हुआ है; केवल बृहत् हिन्दी कोश में कहीं कहीं कुछ परिवर्त्तन देखने में आता है। अनुस्वार और पंचम वर्ण के प्रयोग के सम्बन्ध में सर्व-मान्य निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए मैंने अनेक कोश देख डाले; पर सब में मुझे कई तरह की असंगतियाँ और गड़बड़ियाँ मिलीं। इस प्रकार के अन्तरों और असंगतियों का उल्लेख मैं यही दिखलाने के लिए कर रहा हूँ कि एक तो शब्द-क्रम का प्रकार स्थिर करना बहुत कुछ कोशकार के हाथ की बात है; और दूसरे यह कि यह विषय इतना जटिल है कि इसके ठीक ठीक और तर्क संगत सिद्धान्त स्थिर करना और कोश में आदि से अन्त तक उन सिद्धान्तों का पूरी तरह से निर्वाह करना हर आदमी का काम नहीं है। मैं समझता हूँ कि इस सम्बन्ध में ठीक और पक्के सिद्धान्त स्थिर करने के लिए अभी बहुत सूक्ष्म विचार और गम्भीर विवेचन की आवश्यकता है। इसके मूल में उच्चारण का स्वरूप भी काम करता हुआ जान पड़ता है; क्योंकि जैसा मैं ऊपर कह आया हूँ, अनुस्वार का उच्चारण हल् न के उच्चारण से कुछ भिन्न होता है। 'जिंस' या 'मंसब' का उच्चारण कुछ अलग प्रकार का और 'जिन्स' या 'मन्सब' के उच्चारण से भिन्न होता है। हो सकता है कि हमें संस्कृत शब्दों के लिए एक प्रकार का और उर्दू-हिन्दी शब्दों के लिए उससे भिन्न प्रकार का नियम बनाना पड़े। आशा है, भविष्य के सुयोग्य कोशकार, अच्छी तरह सोच समझकर इस जटिल प्रश्न की एक अच्छी मीमांसा करने का प्रयत्न करेंगे।

प्रामाणिक हिन्दी कोश का कार्य करते समय अनेक प्रकार की सूक्ष्मताओं का विचार करते करते एक बार मेरा ध्यान इस बात पर भी गया था कि जब अनुस्वार और चन्द्र-विन्दु में उच्चारण-भेद है ही, तब क्यों न इस भेद के विचार से दोनों अलग-अलग रखे जायँ। चन्द्र-विन्दु में आधा-सा उच्चारण रहता है, अतः वह पहले रखा जाय; और अनुस्वार में पूरा पूरा उच्चारण होता है, अतः वह बाद में रखा जाय। पर तत्काल मेरा ध्यान इन बात की ओर गया कि ऐसा करने पर 'अँधेरा' शब्द तो पहले रखना पड़ेगा; और 'अंधेर' उसके बहुत बाद और उससे बहुत दूर जा पड़ेगा, जो जिज्ञासुओं के लिए बहुत बड़ी कठिनता उत्पन्न कर देगा। इसलिए मैंने यह निश्चित किया था कि यदि अक्षरी के विचार से कोई दो शब्द बिलकुल एक-से हों और उनमें केवल चन्द्र-बिंदु और अनुस्वार का अन्तर हो, तो चन्द्र-विन्दुवाला शब्द पहले और अनुस्वारवाला शब्द उसके बाद रहना चाहिए। जैसे—

१. मैं, हैं, क्यों, सरीखे शब्दों में उच्चारण तो वही चन्द्र-विन्दुवाला होता है, पर सुभीते के विचार से ऐसे शब्द लिखे और छापे जाते हैं अनुस्वार से ही। अतः इस विषय का विचार कोशकार के अधिक्षेत्र के बाहर है। इसके सिवा मनुष्य के स्वर-यन्त्र की बनावट ही कुछ ऐसी है कि कुछ अवस्थाओं में उसके मुँह से अनुस्वार का उच्चारण अनायास हो जाता है। अनुनासिक वर्ण के पहले या बाद में जो स्वर आता है, उसके साथ अनुस्वार का उच्चारण इसी प्रकार होता है। 'दिन' का उच्चारण वस्तुतः बहुत कुछ 'दिन' के रूप में होता है; पर वह लिखा जाता है 'दिन' ही। साधारण बोल-चाल में कुछ लोग 'घास' को 'घाँस' या 'चावल' को 'चाँवल' भी कह जाते हैं। पर ऐसे रूप शिष्ट-सम्मत न होने के कारण कोशों में अग्राह्य होते हैं। सं० शब्द 'मा' हिन्दी में 'माँ' बोला जाता है; और शिष्ट-सम्मत होने के कारण इसी रूप में साहित्य में लिखा और कोशों में ग्रहण किया जाता है।

हिन्दी का कँपनी (काँपने की क्रिया या भाव) तो पहले रहे और अँगरेजी का 'कंपनी' (मंडली) बाद में रहें। हिं० 'दाँत' पहले रहे, और सं० 'दांत' बाद में रहे। हिन्दी का 'भाँड़' पहले रहे और 'भांड़' के रूप में लिखा जानेवाला सं० भाण्ड बाद में, इन्हीं तरह के शब्दों ने मेरा ध्यान क्रम-सम्बन्धी एक और बात की ओर भी आकृष्ट किया था। वह बात थी ड और ड़ तथा ढ और ढ़ के अन्तर की। शब्द-सागर का क्रम निश्चित करने के समय भी इस अन्तर पर विचार किया गया था; पर उसी रूप का, जिस रूप में, ये वर्ण शब्दों के आरम्भ में आते हैं; और चन्द्र-विन्दु तथा अनुस्वार की तरह इन्हें भी इसलिए एक साथ रखना निश्चित हुआ था कि शब्दों के आरम्भ में ड़ और ढ़ प्रायः आते ही नहीं। पर मेरा ध्यान ड-ड़ और ढ-ढ़ की उस अवस्था पर भी गया था, जिसमें वे शब्दों के बीच या अन्त में आते हैं। मैंने निश्चय किया कि ऐसी अवस्था में ड पहले और ड़ बाद में तथा ढ पहले और ढ़ बाद में रखना चाहिए। पर इस सम्बन्ध में ध्यान रखने की बात यह है कि ड और ढ प्रायः संस्कृत शब्दों में ही आते हैं, और ड़ तथा ढ़ सदा हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के शब्दों में। अभी तक मुझे कोई ऐसा सम-रूपी शब्द नहीं मिला, जो ड या ढ वाले रूप में संस्कृत का भी हो और ड़ या ढ़ वाले रूप में हिन्दी में भी किसी भिन्न अर्थ में प्रचलित हो। पर अब हिन्दी में नये नये शब्द गढ़ने की भी तथा अन्य भाषाओं से कुछ शब्द ग्रहण करने की भी प्रवृत्ति चल रही है। यदि कभी कोई ऐसा प्रसंग आवे, जिसकी अभी कोई सम्भावना नहीं जान पड़ती, तो सदा ड पहले और ड़ बाद में, ढ पहले और ढ़ बाद में रखना चाहिए।

यहाँ चन्द्र-विन्दु और अनुस्वार की चर्चा के बाद ही तुरन्त ड-ड़ और ढ-ढ़ का प्रसंग आ गया है; अतः आगे बढ़ने से पहले इस सम्बन्ध में एक और बात बतला देना आवश्यक जान पड़ता

है। ऊपर जिस प्रकार का भाषा-सम्बन्धी अन्तर ड-ड़ और ढ-ढ़ के सम्बन्ध में बतलाया गया है, वैसा ही चन्द्र-विन्दु और अनुस्वार में भी है। चन्द्र-विन्दु सदा हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के शब्दों में और अनुस्वार सदा संस्कृत में तो आता ही है; पर हमारे कण्ठ से शब्दों का उच्चारण ही कुछ ऐसे ढंग से होता है कि अनुस्वार के बाद प्रायः ड या ढ ही निकलता है, ड़ या ढ़ नहीं निकलता। जैसे—कंडाल[1], ठंढा, हंडी आदि। चन्द्र-विन्दु के बाद हम लोगों के मुँह से बहुधा ड़ ही निकलता है; जैसे—चाँड़, हाँड़ी आदि। ऐसा कोई शब्द मेरे ध्यान में नहीं आ रहा है, जिसमें चन्द्र-विन्दु के बाद ढ़ हो; और हिन्दी में ऐसे नये शब्द प्रचलित होने की कोई सम्भावना भी नहीं दिखाई देती। पर यदि प्रसंग आवे, तो शब्द-क्रम लगाते समय उक्त क्रम का ही ध्यान रखना चाहिए।

पर जो बातें ड-ड़ और ढ-ढ़ के सम्बन्ध में बतलाई गई हैं, वही अरबी-फारसी के उन शब्दों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिएँ, जिनमें उच्चारण की शुद्धता दिखाने के लिए कुछ विशिष्ट वर्णों के नीचे बिन्दी लगाई जाती है। इस सम्बन्ध में साधारण नियम तो यही होना चाहिए कि हिन्दी कोशों में ऐसे शब्द बिना बिन्दी के लिये जायँ; और उनका शुद्ध उच्चारण या रूप आगे व्युत्पत्तिवाले कोष्टक में दिखाया जाय; और वहीं वर्णों के नीचे बिन्दी लगाई जाय अथवा उनके बाद आवश्यकता के अनुसार लुप्ताकार, विसर्ग आदि रखे जायँ। पर यदि आरम्भ में ही शब्दों के शुद्ध रूप दिखाना आवश्यक समझा जाय तो सम-रूपी शब्दों में से पहले बिना बिन्दीवाला शब्द रखा जाय, और तब बिन्दी-वाला। जैसे—टुकड़े का वाचक हिं० फाल पहले रहे, और शुभा-

---

१. कुछ पंजाबी कभी कभी 'कंडाल' को 'कँडाल' और 'पंडाल' को 'पँडाल' भी कह जाते हैं; पर यह नियम नहीं, अपवाद मात्र है।

शुभ का वाचक अ० फ़ाल उसके बाद। हिन्दी या संस्कृत का 'राज' पहले रहे; और फा० का रहस्य-वाचक 'राज़' उसके बाद।

ऊपर की चर्चा में कुछ बातें अवश्य इधर-उधर की आ गई हैं; पर विषय का विवेचन इनके बिना पूरा नहीं हो सकता था। मुख्य प्रसंग चल रहा था अक्षर-क्रम का; और उसमें अनुस्वार तथा चन्द्र-विन्दु की चर्चा थी। हिन्दी कोशों के अक्षर-क्रम में अनुस्वार तो पहले रहता ही है; जैसे—अं, कं, तं आदि; परन्तु आरम्भिक अक्षर के बाद जब दूसरा अक्षर आता है, तब वहाँ एक और बात का ध्यान रखना पड़ता है। वर्ण हल् भी होते हैं और सस्वर भी। इनमें से हल् वर्ण पहले आता है, तब उसका अनुस्वार-युक्त रूप रहता है; और इन दोनों के बाद सस्वर वर्ण की बारी आती है। इस सिद्धान्त के अनुस्वार अक्षर-क्रम इस प्रकार का हो जाता है—

अस्   असं   असः   अस

कद्   कदं   कदः   कद आदि।

शब्दों के बीच में भी पहले उक्त प्रकार के वर्ण रहते हैं और उनके बाद क्रम से दूसरे वर्ण। तब उस वर्ण की मात्राएँ क्रम से रहती हैं; उनमें भी अनुस्वार या चन्द्र-विन्दु से युक्त मात्राएँ पहले रहती हैं, और तब उन वर्णों से बननेवाले संयुक्त अक्षर। संयुक्त अक्षरों में भी वही अकारादिवाला क्रम चलता है। जैसे—अकौ के बाद अक्क और अक्ख, असौ के बाद अस्क, अस्ख आदि; और इन संयुक्त वर्णों के बाद भी वही मात्राओंवाला क्रम रहता है। इन सब सिद्धान्तों के अनुसार चलने पर स्थूल रूप से अक्षर-क्रम इस प्रकार आता है—

ं और ँ — अनुस्वार और चन्द्र-विन्दु

् — हल् वर्ण

ः — विसर्ग और तब सस्वर वर्ण

अब स्वरों और व्यंजनों का क्रम इसी के अनुसार आगे बढ़ता है; और अन्तिम रूप इस प्रकार स्थिर होता है—

ँ और ं	क	ड़	म
ः विसर्ग	ख	ढ	य
अ	ग	ढ़	र
आ	घ	ण	ल
इ	ङ	त	व
ई	च	थ	श
उ	छ	द	ष
ऊ	ज	ध	स
ऋ	झ	न	ह
ए	ञ	प	क्ष 'क' के अन्तर्गत
ऐ	ट	फ	त्र 'त' के अन्तर्गत
ओ	ठ	ब	ज्ञ 'ज' के अन्तर्गत
औ	ड	भ	

क्ष, त्र और ज्ञ तीनों वस्तुतः संयुक्त वर्ण हैं। क और ष के योग से क्ष, त और र के योग से त्र तथा ज और ञ के योग से ज्ञ[1] बनता है। इसलिए क्श के बाद और क्स के पहले क्ष रखा जाता है; और ज्ञ का स्थान इसलिए प्रायः जौ के बाद और ज्य के पहले रहता है कि ज के साथ और वर्ण संयुक्त रूप से प्रायः होते ही नहीं। हाँ, ज्य के बाद ज्र, ज्व आदि संयुक्त वर्ण होते हैं; और ये सब भी वर्ण-क्रम के अनुसार ही आते हैं। लुप्ताकार का हिन्दी

१ ज्ञ का उच्चारण हिन्दी में 'ग्यँ', मराठी में 'द्न्य' और गुजराती में 'ज्न' के समान होता है। जान पड़ता है कि इसका मूल उच्चारण हम लोग भूल गये हैं और भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इसके कई अलग उच्चारण चल पड़े हैं। पर वर्ण-विचार में वह सब जगह एक-सा और निर्विवाद रूप से संयुक्त वर्ण ही माना जाता है।

में तो प्रयोग होता ही नहीं, हाँ संस्कृत में होता है। इसलिए हिन्दी में उसका स्थान निर्दिष्ट करने की आवश्यकता नहीं। फिर भी यदि कहीं क्रम में उसे स्थान देने की आवश्यकता पड़े, तो वह स्थान आकार की मात्रा के अन्त में और इकार की मात्रा आरम्भ होने से पहले होगा। यहाँ ङ का भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। यों तो अनुस्वार-प्रधान प्रणाली में ङ के लिए कोई स्थान नहीं होता, पर कुछ संस्कृत शब्दों में, जहाँ वह हल् रूप में आता है, वह अपने विशुद्ध रूप में (जैसे—वाङ्मय, वाङ्मुख आदि) ही लिया जाता और पंचम वर्णवाले स्थान पर रखा जाता है। वहाँ अनुस्वार काम नहीं दे सकता; और इसी लिए वह अनुस्वार-प्रणाली के क्षेत्र के बाहर हो जाता है। उसका स्थान घ के संयुक्त वर्णों के बाद और च से पहले रहता है; अर्थात् उसका विचार वर्ण-क्रम के अनुसार ही होता और स्थान उसी के अनुसार निर्दिष्ट किया जाता है।

एक और दृष्टि से भी शब्द-क्रम का विचार कर लेना बहुत आवश्यक जान पड़ता है। बहुत-से शब्द ऐसे होते हैं, जिनके योग से अथवा जिनके आगे लगकर कुछ और शब्द भी बनते हैं। जैसे-कर्म से कर्म-कांड, कर्म-क्षेत्र, कर्म-योग, कर्म-वाच्य आदि; देव से देव-ऋण, देव-कन्या देव-दूत, देव-भाषा, देव-मंदिर आदि; मन से मन-गढंत, मन-चला, मन-माना, मन-मुटाव, मन-मौजी आदि; या श्री से श्रीकंठ, श्रीकर, श्रीधारी, श्रीरंग, श्री-वत्स, श्री-सखा आदि। कोशों में ऐसे शब्द लेने के दो प्रकार हैं। पहले प्रकार में तो सब शब्द अलग अलग यथा-स्थान अक्षर-क्रम से लिये जाते हैं; और दूसरे प्रकार में वे उस शब्द के अन्तर्गत लिये जाते हैं, जिनके योग से या जिनके साथ लगकर वे बने होते हैं। इस प्रकरण के आरम्भ में हम बतला चुके हैं कि धातुओं के आधार पर शब्द-क्रम लगाना क्यों

ठीक नहीं है। जो बातें धातुओं के अनुसार शब्द-क्रम लगाने में बाधक होती हैं, प्रायः वही बातें मूल शब्द के साथ उसके यौगिक शब्द रखने में भी बाधक हैं। जिज्ञासुओं के सुभीते के विचार से शब्द-कोशों में पहले प्रकार का क्रम रखना ही समीचीन जान पड़ता है। कारण यह है कि कभी-कभी ऐसे शब्दों की संख्या बहुत हो जाती है, जिससे शब्द-क्रम लगाने के दूसरे प्रकार का पूरा पूरा पालन प्रायः बहुत कठिन और भ्रामक होता है।

पर जो लोग दूसरे प्रकार का शब्द-क्रम रखना चाहते हों, उन्हें यौगिक शब्द भी दूसरे अंग के अक्षर-क्रम के विचार से रखने चाहिएँ। यदि इसका ठीक तरह से ध्यान न रखा जायगा, तो लोगों को शब्द ढूँढ़ने में बहुत कठिनता होगी। बृहत् हिन्दी कोश में प्रायः इसी दूसरे प्रकार से शब्द लिये गये हैं; पर उन्हें अक्षर-क्रम से रखने की ओर पूरा ध्यान नहीं दिया गया है, जिससे कहीं कहीं कुछ गड़बड़ी हो गई है। इस प्रकार के अक्षर-क्रम का ध्यान शब्दों के अन्तर्गत, क्रिया-प्रयोग, पद, मुहावरे आदि देने के समय भी रखना बहुत आवश्यक है। यहाँ तक कि यदि कोई विशेष बात या विचार बाधक न हो तो शब्दों के आगे दिये जाने-वाले पर्याय भी अक्षर-क्रम से देना अच्छा होगा। हिन्दी शब्द-सागर में मुहावरे आदि अक्षर- क्रम से रखने का अवश्य बहुत कुछ प्रयत्न किया गया है; फिर भी कहीं कहीं इस नियम का ठीक और पूरा पालन नहीं हो सका है, जिससे जिज्ञासुओं को अपने अभीष्ट यौगिक शब्द या मुहावरे तक पहुँचने में कभी-कभी बहुत कठिनता होती है। इस दूसरे प्रकार के शब्द-क्रम के सम्बन्ध में यह बतला देना आवश्यक है कि यह ढंग वैज्ञानिक होने पर भी कुछ जटिल है; और इसी लिए अब उन्नत भाषाओं के अच्छे कोशों में इस प्रणाली का परित्याग हो रहा है और इसका स्थान पहले प्रकार की

प्रणाली ले रही है, जो कई दृष्टियों से सबके लिए सुभीते की है।

शब्दों का क्रम निश्चित करके उन्हें ठीक स्थान पर रखने में एक और प्रकार की कठिनता होती है। प्रायः ऐसी कहावतें, पद, मुहावरे आदि मिलते हैं, जिनके सम्बन्ध में यह निश्चय करना कठिन होता है कि इन्हें किस शब्द के अन्तर्गत रखा जाय। आँखें दिखाना, मुँह बनाना, सिर चढ़ाना आदि ऐसे मुहावरे हैं जो बिना किसी विशेष विचार के आँख, मुँह, सिर आदि शब्दों के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। पर कुछ प्रयोग ऐसे भी होते हैं, जिनमें एक से अधिक संज्ञाएँ या क्रियाएँ होती हैं; और उन्हीं के सम्बन्ध में विशेष विचार की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए अपना-सा मुँह लेकर लौट आना, कोरी आँख, खून सफेद होना, चार दिन, भर-पेट सरीखे मुहावरों और पदों के सम्बन्ध में यह विचार करना पड़ता है कि इन्हें किस क्रिया या संज्ञा के अन्तर्गत रखा जाय। ऐसे अवसरों पर यही देखना पड़ता है कि अर्थ के विचार से मुख्यता किस शब्द की है; और उसी मुख्य शब्द के अन्तर्गत अर्थ देना चाहिए। पर जिज्ञासु लोग उस मुहावरे या पद के दूसरे गौण शब्द के अन्तर्गत भी वह मुहावरा या पद ढूँढ़ सकते हैं; अतः उसके अन्तर्गत भी वह मुहावरा या पद देकर उस शब्द का अभिदेश मात्र कर देना चाहिए, जिसके अन्तर्गत उसका अर्थ, विवरण या व्याख्या दी गई हो।

यहाँ एक उदाहरण देकर यह विषय और अधिक स्पष्ट कर देना अच्छा होगा। तुलसीदास जी ने कहा है—कवि उर अजिर नचावहिं बानी। और दीनदयाल गिरि ने कहा है—गिरा नचाव सुखेन, सिद्धिदायक सब लायक। इनमें बानी नचाना और गिरा नचाना प्रयोग आये हैं। बानी और गिरा एक ही चीज हैं; और इनके स्थान पर इनका कोई दूसरा पर्याय भी

आ सकता है। अतः ऐसे प्रयोगों में बानी या गिरा की प्रधानता नहीं है, प्रधानता है 'नचाना' क्रिया की। अतः अर्थ 'नचाना' में ही जाना चाहिए; और उसी के साथ ये या ऐसे दूसरे पद, प्रयोग, मुहावरे आदि और उनके उदाहरण भी रहने चाहिएँ। यदि विशेष आवश्यकता समझी जाय तो गिरा और बानी के अन्तर्गत भी यह प्रयोग देकर 'नचाना' का अभिदेश कर देना चाहिए। इससे जिज्ञासुओं को भटकना या निराश न होना पड़ेगा।

ऊपर विस्तारपूर्वक जितनी बातें कही गई हैं, उन सब का सारांश यही है कि अक्षर-क्रम और शब्द-क्रम सदा निश्चित नियमों या सिद्धान्तों के अनुसार और बिलकुल ठीक ढंग से लगाये जाने चाहिएँ और आदि से अन्त तक उनका समान रूप से पालन होना चाहिए। पर यह बात तभी हो सकती है, जब ऐसे क्रमों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय और उनमें निहित तत्त्व ढूँढ़कर अच्छी तरह हृदयंगम कर लिये जायँ। बिना इसके अच्छे कोशकारों का काम ठीक तरह से चल ही नहीं सकता। केवल दूसरों का अनुकरण करने पर इस क्षेत्र में कुछ न कुछ त्रुटियाँ या दोष रह ही जायँगे।

७

शब्द-भेद

शब्द-भेद है तो मुख्यतः व्याकरण का विषय, पर शब्द-कोशों में भी उसका स्थान कम महत्त्व का नहीं है। कोशकार अपने कोश में जो शब्द देता है, उनके सम्बन्ध में यह निर्देश करना भी उसका कर्त्तव्य होता है कि व्याकरण के विचार से वे किस प्रकार के हैं—शब्द-भेद की दृष्टि से वे किस भेद या वर्ग में आते हैं। उसे यह बतलाना पड़ता है कि अमुक शब्द संज्ञा है या क्रिया; विशेषण है या क्रिया-विशेषण आदि; और यहाँ तक कि उसे अव्यय, क्रिया-विशेषण आदि के सूक्ष्म अन्तर का भी ध्यान रखना पड़ता है। कुछ कोशकार शब्द के आगे केवल संज्ञा या क्रिया लिखकर ही छुट्टी पा जाते हैं; वे यह नहीं बतलाते कि कोई शब्द यदि संज्ञा है तो उसका लिंग क्या है; अथवा यदि क्रिया है तो वह अकर्मक है या सकर्मक। पर ऐसा करना भी ठीक नहीं है। यह बतलाना कोशकार का कर्त्तव्य है कि जो शब्द संज्ञा है, वह पुंलिंग है या स्त्रीलिंग, और जो शब्द क्रिया है, वह अकर्मक है या सकर्मक। इस प्रकार के निर्देश के बिना शब्द का विवेचन अधूरा रह जाता है[१]।

---

१ साधारणतः कोशों में शब्द-भेद का निर्देश करने के लिए, स्थान बचाने के विचार से, शब्द-भेदों के लिए कुछ संकेत-चिह्न या संक्षिप्तक निश्चित कर लिये जाते हैं। जैसे—क्रिया के लिए क्रि०, अकर्मक के लिए अ०, सकर्मक के लिए स०, पुंलिंग के लिए पुं० आदि। कोश के आरम्भ में अन्य प्रकार के संक्षिप्तकों के साथ इनका भी उल्लेख किया और विवरण दिया जाता है।

प्रायः सभी भाषाओं में अनेक ऐसे शब्द होते हैं जो कुछ अर्थों या अवस्थाओं में शब्द-भेद के विचार से एक प्रकार के और दूसरे अर्थों या अवस्थाओं में कुछ और प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए 'आदि' शब्द कहीं अव्यय होता है, कहीं विशेषण और कहीं पुंलिंग संज्ञा। हिन्दी का बहुत प्रचलित शब्द 'आना' अकर्मक क्रिया तो है ही; पर चार पैसेवाले सिक्के के अर्थ में वह पुं० संज्ञा भी है। यही बात 'करना', 'चूना' आदि के सम्बन्ध में भी है। 'कारक' विशेषण भी है और संज्ञा भी। 'हरना' सं० क्रिया तो है ही, 'हिरन' का स्थानिक वाचक होने के कारण पुं० संज्ञा भी है। 'पालना' सकर्मक क्रिया तो है ही, पर एक अर्थ में वह पुं० संज्ञा भी है। 'लाल' एक अर्थ में विशेषण है तो एक अर्थ में संज्ञा। यही बात ठीक, दक्षिण, नगद, पैदा, माली, रक्त आदि के सम्बन्ध में भी है। 'तो' खड़ी बोली में अव्यय तो है ही, पर व्रज भाषा में सर्वनाम भी है। 'बहाना' सं० क्रिया भी है और पुं० संज्ञा भी। 'पास' संज्ञा भी है और अव्यय भी। 'कसाई' भाववाचक स्त्रीलिंग संज्ञा भी है और जातिवाचक पुंलिंग संज्ञा भी। 'पहलवानी' विशेषण भी है और भाववाचक संज्ञा भी। 'तारा' है तो संज्ञा ही, पर कुछ अर्थों में स्त्रीलिंग और कुछ अर्थों में पुंलिंग है। माता के भाईवाले अर्थ में तो 'मामा' पुं० है, पर फारसी में वह माता का वाचक होने के कारण स्त्री० भी है; और इसी लिए भारतीय मुसलमानों में वह रोटी पकानेवाली नौकरानी के अर्थ में भी स्त्री० है।

अर्थ के विचार से कोई भेद न होने की दशा में भी कभी-कभी केवल स्थानिक प्रयोग के कारण कुछ शब्दों में लिंग-भेद हो जाता है। 'गेंद' शब्द साधारणतः पुंलिंग होने पर भी व्रज में स्त्रीलिंग बोला जाता है। ऐसे शब्द के आगे उसी लिंग का निर्देश किया जाता है, जिस लिंग में वह अधिक

विस्तृत क्षेत्र में बोला जाता हो। कभी कभी कवि लोग किसी कारण से शब्द का लिंग बदल देते और उसे विपरीत लिंग में प्रयुक्त कर जाते हैं। 'शोर' है तो पुंलिंग, पर दीनदयाल गिरि ने उसका प्रयोग स्त्री० में किया है। यथा—सुनै कौन या ठौर जितै ये खल की सोरैं। और कविवर बच्चन ने पुं० 'बाग' को इन पंक्तियों में स्त्री० कर दिया है—

पवन मेरी बागों में खूब
किये हैं तुमने मौज-विहार।

ऐसे अवसरों पर कोशकार को उसका वास्तविक और शुद्ध लिंग ही देना पड़ता है; और कुछ विशिष्ट अवसरों पर यह भी संकेत करना पड़ता है कि अमुक अथवा कुछ कवियों ने इसका विपरीत लिंग में भी प्रयोग किया है। कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं, जिनका लिंग निश्चित नहीं होता, और जो दोनों लिंगों में बोले जाते हैं। ऐसे शब्द उभय-लिंगी कहलाते हैं; पर हिन्दी में ऐसे शब्द हैं बहुत ही कम। यदि वस्तुतः ऐसे शब्द मिलें जो निश्चित रूप से उभय-लिंगी हों, तो उनके आगे इस बात का भी निर्देश करना आवश्यक होता है।

यों साधारणतः कोशों में शब्द अपने पुंलिंग रूप में ही लिये जाते हैं; और उन्हीं के आगे उनके स्त्रीलिंग रूप भी दिखला लिये जाते हैं। पर ऐसा करते समय भी कई बातों का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। एक तो यह कि कुछ अवस्थाओं में कोशों में कुछ शब्दों के पुंलिंग रूप के अतिरिक्त स्त्रीलिंग रूप भी अलग से लिये जाते हैं। विशेषतः जहाँ शब्द के पुंलिंग और स्त्रीलिंग रूपों में विशेष अन्तर होता हो और साधारण पाठक सहज में यह न समझ सकते हों कि अमुक स्त्रीलिंग शब्द अमुक पुंलिंग शब्द का स्त्री-वाची रूप है, अथवा शब्द का पुंलिंग रूप विशेष प्रचलित न हो,

यहाँ स्त्री-लिंग शब्द स्वतन्त्र रूप से भी लिये जाते हैं। सम्राज्ञी शब्द देखकर साधारण पाठक यह नहीं समझ सकते कि यह 'सम्राट्' का स्त्री-लिंग रूप है। अतः 'सम्राट्' के आगे उसका स्त्री-लिंग रूप 'सम्राज्ञी' तो देना ही चाहिए, स्वतन्त्र रूप से यह शब्द भी लिया जाना चाहिए। 'युवराज' का स्त्री० संस्कृत में 'युव-राज्ञी' होता है; पर हिन्दी में उसकी जगह लोग 'युवरानी' का भी प्रयोग करते हैं। अतः 'युवराज्ञी' के साथ तो अर्थ होना चाहिए; और 'युवरानी' में 'युवराज्ञी' का अभिदेश मात्र होना चाहिए। साधारण पाठक भी सहज में समझ सकते हैं कि नामक का स्त्री० नामिका और नामी का स्त्री० नामिनी होता है; पर संस्कृत का 'नाम्ना' शब्द हिन्दी में विशेष प्रचलित नहीं है, क्योंकि साधारणतः सब लोग उसकी जगह 'नामक' का ही प्रयोग करते हैं; पर 'नाम्नी' अवश्य कहीं कहीं आ जाता है; अतः 'नाम्नी' शब्द स्वतन्त्र रूप से भी लिया जाना चाहिए। संस्कृत के कुछ ऐसे स्त्री-लिंग शब्द भी हिन्दी में प्रचलित हैं, जिनके सम्बन्ध में जन-साधारण में कुछ भ्रम फैला है अथवा जिनके शुद्ध रूप और अर्थ की ओर लोगों का पूरा ध्यान नहीं रहता। उदाहरण रूप में प्रदर्शनी, मोहनी, मोहिनी आदि शब्द हैं। अच्छा कोशकार सहज में ऐसे भ्रम दूर कर सकता है। वह बतला सकता है कि प्रदर्शन का स्त्री० प्रदर्शनी, प्रदर्शी का स्त्री० प्रद-र्शिनी, मोहन का स्त्री० मोहनी और मोही का स्त्री० मोहिनी होता है। जो लोग मन्त्री का स्त्री० मन्त्राणी और शास्त्री का स्त्री० शास्त्राणी बनाते हैं, उन्हें यह बतलाया जा सकता है कि मन्त्री का स्त्री० वस्तुतः मन्त्रिणी और शास्त्री का स्त्री० शास्त्रिणी होता है। वह यह भी बतला सकता है कि कृशोदर का स्त्री० कृशोदरा भी होता है और कृशोदरी भी; तथा शूद्र का स्त्री शूद्रा भी होता है और शूद्री भी। कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं जो सदा स्त्री-लिंग

ही रहते हैं, और जिनके पुंलिंग रूप होते ही नहीं; जैसे—अप्सरा, विधवा, वेश्या आदि। ऐसे शब्दों के लिए किसी विशिष्ट निर्देश की आवश्यकता नहीं होती।

क्रियाओं के सम्बन्ध में भी कुछ इसी प्रकार की बात है। यह ठीक है कि कुछ क्रियाएँ सदा अकर्मक और कुछ सदा सकर्मक रहती हैं; पर कुछ क्रियाएँ ऐसी भी होती हैं जो अकर्मक और सकर्मक दोनों रूपों में चलती हैं। ऐसी अवस्था में शब्द के अंतर्गत अकर्मक और सकर्मक के भेद अलग करके दिखलाये जाते हैं; और अकर्मक का अर्थ अकर्मक रूप में तथा सकर्मक का अर्थ सकर्मक रूप में अलग अलग दिया जाता है। 'तूलना' यों तो गाड़ी के पहियों में तेल देने या औंगने को तो कहते ही हैं, पर यदि उसे तुल्य या तुलना से व्युत्पन्न किया जाय और किसी से तुलना करने अथवा उपमा देने के अर्थ में प्रयुक्त किया जाय, तो साधारणतः यही माना जायगा कि 'तूलना' सकर्मक क्रिया है। और यदि उसका प्रयोग किसी की बराबरी या समता करने के अर्थ में हो तो उस दशा में वह अकर्मक हो जायगा[१]। कभी कभी कुछ कवि और लेखक अकर्मक क्रिया का सकर्मक रूप में अथवा सकर्मक क्रिया का अकर्मक रूप में भी प्रयोग कर जाते हैं। इस प्रकार अकर्मक क्रियाओं के सकर्मक रूप में और सकर्मक क्रियाओं के अकर्मक रूप में होनेवाले कई प्रयोग मेरे देखने में आये हैं। पर ऐसे प्रयोग मैंने कहीं टाँक नहीं रखे थे; इसलिए खेद है कि उनके उदाहरण यहाँ नहीं दिये जा सके।

विशेषणों के सम्बन्ध में तो यह बात प्रायः सभी लोग

---

१. 'तूलना' शब्द के अर्थ और प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ बातें आगे चलकर 'अर्थ-विचार' शीर्षक प्रकरण में बतलाई गई हैं।

जानते हैं कि उनका प्रयोग कुछ अवसरों पर संज्ञा के रूप में भी होता है। पर कभी कभी कुछ लोग कुछ विशिष्ट संज्ञाओं का प्रयोग विशेषण रूप में भी कर जाते हैं। दीनदयाल गिरि जी ने 'अचंभा' (संज्ञा) का प्रयोग इस चरण में विशेषण रूप में किया है—बरनै दीनदयाल बात यह बड़ी अचंभा। यहाँ 'अचंभा' का प्रयोग अद्भुत या विलक्षण के अर्थ में हुआ है, अतः वह विशेषण हो गया है। हिन्दी का 'भगवा' शब्द है तो सर्वथैव विशेषण, और वह आया है हिन्दी के एक ही कोश में; पर वहाँ भी वह विशेषण नहीं, बल्कि संज्ञा माना गया है और संज्ञा रूप में ही उसका अर्थ भी दिया गया है। प्रामाणिक हिन्दी कोश के दूसरे संस्करण में 'ध्येय' के विशेषण रूप के अन्तर्गत ही उसका संज्ञावाला अर्थ भी (संख्या ३) आ गया है। ढूँढ़ने पर ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। ऐसे विकट अवसरों पर कोशकार को प्रत्येक शब्द का शब्द-भेद बतलाने के समय बहुत ही सावधान रहना पड़ता है; और उसके अर्थों के प्रत्येक अंग पर और प्रयोग के प्रत्येक रूप पर बहुत अच्छी तरह विचार करना पड़ता है। उसे यह देखना पड़ता है कि साधारण और सु-परिचित शब्द-भेद के अतिरिक्त कहीं कोई और शब्द-भेद तो छिपा नहीं है। उदाहरणार्थ—मतवाली शब्द विशेषण रूप में तो 'मतवाला' का स्त्री० है ही; अतः यह रूप 'मतवाला' के अन्तर्गत दिखाया जाना चाहिए। हाँ, 'मतवाला-पन' के अर्थ में वह स्त्रीलिंग संज्ञा है; और इस अर्थ में वह स्वतंत्र रूप से लिया जाना चाहिए। महँगी, सस्ती सरीखे और भी बहुत-से ऐसे शब्द हैं जो अपने विशेषण रूप में तो महँगा, सस्ता सरीखे दूसरे विशेषणों के स्त्री० रूप मात्र हैं, पर स्त्री० संज्ञा रूप में स्वतंत्र अर्थ रखनेवाले शब्द हैं। ऐसे शब्दों का विशेषण रूप तो पुंलिंग विशेषणों के साथ रहना चाहिए; और संज्ञा-

वाला रूप स्वतंत्र शब्द की तरह लेना चाहिए। 'हवाई' शब्द अपने विशेषण रूप में पुंलिंग और स्त्रीलिंग दोनों में एक-सा रहता है ; और कुछ अर्थों में वह स्वतंत्र रूप से स्त्रीलिंग संज्ञा भी होता है; अतः उसके अन्तर्गत विशेषणवाला अर्थ भी लेना चाहिए और संज्ञावाला अर्थ भी। और विशेषणवाले अर्थ के साथ उसके उभय-लिंगी होने का भी संकेत होना चाहिए।

विशेषणों के प्रसंग में यहाँ एक और बात भी बतला देना आवश्यक जान पड़ता है। संस्कृत में प्रायः क्रियार्थक और व्यापार-वाचक संज्ञाओं के भूत-कालिक कृदन्त रूप भी होते हैं। जैसे—कथन का कथित, पूजन का पूजित, मोहन का मोहित, विवाह का विवाहित आदि। ऐसे भूत-कालिक कृदन्तवाले रूपों का प्रयोग तो विशेषणों के ही समान होता है ; फिर भी साधारण विशेषण और भूत-कालिक कृदन्त में कुछ अन्तर होता है। अब तक प्रायः सभी कोशों में भूत-कृदन्त भी विशेषण ही मान लिये गये हैं। पर मेरी समझ में यदि विशेषण और भूत-कृदन्त का अन्तर स्पष्ट कर दिया जाय तो अच्छा हो। साधारण विशेषण के आगे उस का संक्षिप्तक और भूत-कालिक कृदन्त के आगे उसकी इस विशिष्टता का सूचक भूत० कृ० दे दिया जाय तो जिज्ञासुओं के लिए वह विशेष उपयोगी होगा। प्रामाणिक हिन्दी कोश के तीसरे संस्करण के लिए मैंने जहाँ-तहाँ यही प्रणाली प्रचलित करने का प्रयत्न किया है।

प्रायः असावधानता के कारण कोशकार शब्दों का शब्द-भेद निश्चित करने में कई तरह की भूलें कर जाते हैं। कहीं संज्ञा को विशेषण और कहीं विशेषण को संज्ञा मान लेते हैं। इस प्रकार की सैकड़ों भूलें अनेक कोशों में दिखाई देती हैं। अभी हाल में इस प्रकार की एक विलक्षण भूल एक कोश में दिखाई दी। उसमें 'खिसी' शब्द संज्ञा माना गया है

और उसका पहला अर्थ लज्जा या शर्म और दूसरा अर्थ धृष्टता या ढिठाई दिया गया है ; और पहले अर्थ के अन्तर्गत उदाहरण दिया गया है—कहा चलत उपरावटे अजहूँ, खिसी न गात। यह स्पष्ट है कि यहाँ 'खिसी' शब्द वस्तुतः हिन्दी की अकर्मक क्रिया 'खिसना' का भूत० स्त्री० रूप में प्रयोग हुआ है, वह संज्ञा नहीं है। 'नमस्ते' अनेक कोशों में पुं० संज्ञा माना गया है ; और 'हे अली' के अर्थ में 'हेली' अव्यय माना गया है ; पर वस्तुतः ये शब्द नहीं हैं, इसलिए इनका कोई शब्द-भेद भी नहीं हो सकता। ये तो पद हैं; और शब्द-भेदवाले स्थान पर इन्हें पद लिखना चाहिए। ऐसी भूलों के कुछ उदाहरण प्रामाणिक हिन्दी कोश की प्रस्तावना में दिये जा चुके हैं। इधर अनेक कोशों के सिवा स्वयं प्रामाणिक हिन्दी कोश में भी, इस प्रकार की अनेक भूलें मेरे देखने में आई हैं, जिनका सुधार अगले संस्करण के लिए हो रहा है। ऐसे अवसरों पर कोशकार को शब्द-भेद निश्चित करने में बहुत सतर्क और सावधान रहना चाहिए, क्योंकि प्रायः लोग शब्दों का शब्द-भेद जानने के लिए कोशों का ही सहारा लेते हैं। व्याकरण में प्रत्येक शब्द का अलग अलग शब्द-भेद नहीं बतलाया जाता। उसमें तो शब्द-भेदों के सम्बन्ध में स्थूल सिद्धान्त मात्र बतला दिये जाते हैं ; और उदाहरण-स्वरूप थोड़े-से शब्द दे दिये जाते हैं। प्रत्येक शब्द का ठीक शब्द-भेद बतलाने का उत्तरदायित्व तो मुख्यतः कोशकार पर ही होता है ; और इस उत्तरदायित्व का निर्वाह उसे बहुत समझ-बूझकर करना चाहिए।

८

निरुक्ति या व्युत्पत्ति

आज-कल जिसे हम लोग भाषा-विज्ञान कहते हैं, वह हमारे यहाँ का पुराना निरुक्त है। यह छः वेदांगों में से एक है; और इसमें इस बात का विवेचन हुआ है कि वैदिक और आरम्भिक संस्कृत के शब्दों की रचना किन मूल धातुओं से हुई है। जिन नियमों के अनुसार शब्द बनते और उनके अनेक रूप विकसित होते हैं, अथवा उनके अर्थों में जो आधान, परिवर्त्तन, विकार आदि होते हैं, उन सब का इस शास्त्र में विचार होता है। जब

आप यह सोचने बैठते हैं कि अमुक शब्द कहाँ से आया, कैसे बना या उसमें अमुक अर्थ कैसे लगा, तब आप निरुक्ति के क्षेत्र में काम करते हैं। यों तो यह क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक है, पर आज-कल उक्त सीमित अर्थ में ही निरुक्त का प्रयोग होता है; और इस प्रकार निरुक्ति तथा व्युत्पत्ति एक दूसरे के पर्याय बन गये हैं।

भाषाओं में शब्द कई तरह से बनते हैं। पहली बात तो यह है कि भाषा या तो अपने माता-पिता और परिजनों से सीखी जाती है या समाज से। वह एक दिन में तो बनती नहीं, सैकड़ों-हजारों वर्षों से चली आती है। आज से दो-चार हजार वर्ष पहले हमारे पूर्वज जो भाषा बोलते थे, उसी का बिगड़ा-बना रूप आज हम भी बोलते हैं। यह ठीक है कि बीच के हजारों बरसों में शब्दों के रूपों और अर्थों में अनेक प्रकार के परिवर्त्तन और विकार हुए हैं, जिनके कारण भाषा का स्वरूप बहुत-कुछ बदल गया है; पर उसका प्रवाह और स्रोत एक-ही-सा बना है और उसमें बहुत-कुछ एक-से तत्त्व काम करते हैं। पटने और राज-महल की गंगा भी वही है, जो हरद्वार या गंगोत्तरी की है; केवल रूप कुछ बदल गया है और विस्तार कुछ बढ़ गया है। ठीक यही बात मानव-समाज की भाषा की भी है। आज-कल हमारे देश में जितनी भाषाएँ और बोलियाँ बोली जाती हैं, उनमें से अधिक-तर मूलतः संस्कृत और प्राकृत से निकली हैं और आर्य परिवार की भाषाएँ हैं[1]। इसकी कुछ शाखाएँ युरोप आदि के दूर दूर के

---

१ विद्वानों ने समस्त संसार की भाषाओं का पूरा पूरा अध्ययन करके उनकी प्रकृति, स्वरूप, शब्द-भण्डार आदि के विचार से उनके अनेक परिवार या विभाग और उन परिवारों तथा विभागों की अनेक शाखाएँ तथा उप-विभाग भी स्थिर किये हैं। पर यहाँ उन सब से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है।

देशों तक फैली हुई हैं। भारत में जिस समय आदिम आर्य बसते थे, उस समय दो और प्रमुख जातियाँ भी यहाँ रहती थीं—मुण्डा और द्रविड़। इन जातियों के शब्दों का भी कुछ प्रभाव आर्यों की भाषा संस्कृत पर पड़ा था; और वह प्रभाव अब तब संस्कृत से उत्पन्न सभी भारतीय भाषाओं पर दिखाई देता है। इस आर्य परिवार की सभी शाखाओं में ऊपर से देखने पर कितना ही रूप-भेद क्यों न दिखाई दे, परन्तु मूलतः वे इसलिए एक ही परिवार की मानी जाती हैं कि सब एक ही पूर्वजों की भाषा से विकसित हुई हैं। गाय के अर्थ में संस्कृत का 'गो' शब्द ही फारसी में गाव' और अँगरेजी में 'काऊ' हुआ है। सं० 'अश्व' ने फारसी में 'अस्प' और अँगरेजी में 'हॉर्स' रूप धारण किया है। सं० 'द्वार' ही फारसी में 'दर' और अँगरेजी में 'डोर' हुआ है। सं० 'नाम' फारसी में ज्यों का त्यों बना रहा; पर अँगरेजी में वह 'नेम' हो गया है। ऊँट का वाचक सं० 'क्रमेलक' यूनानी में 'क्रमेलस' और अँगरेजी में 'कैमेल' हो गया है। माता, पिता, भाई आदि पारिवारिक सम्बन्धों के सूचक अनेक शब्दों में भी यही बात दिखाई देती है। उक्त उदाहरणों से पता चलता है कि शब्दों के रूप बदलते समय (क) कभी तो बीच में कोई नया वर्ण या स्वर आ जाता है (ख) कभी पहले के किसी वर्ण या स्वर का लोप हो जाता है और (ग) कभी किसी वर्ण या स्वर का रूप कुछ बदल जाता है। यदि 'गो' से 'गाव' हुआ तो बीच में एक नया स्वर आ गया। यदि 'गाव' से 'गव' हो जाय तो बीच के 'ा' का लोप हो गया। यदि 'गो' से 'गऊ' हो जाय तो 'ो' का 'ऊ' हो गया। पारिभाषिक क्षेत्र में इन्हें क्रमात् (क) वर्णागम (ख) वर्ण-नाश या वर्ण-लोप और (ग) वर्ण-विकार कहते हैं।

शब्दों के रूपों में होनेवाले ये परिवर्त्तन तो इतने सीधे-सादे हैं कि साधारणतः सभी लोगों की समझ में बहुत सहज में आ

जाते हैं। पर कुछ परिवर्त्तन ऐसे भी होते हैं जो जल्दी सब की समझ में नहीं आते। यदि कहा जाय कि हिं० का फाटक सं० कपाट से बना है या फारसी का शुतुर सं० उष्ट्र से बना है, तो यह बात जल्दी साधारण लोगों की समझ में न आवेगी। पर हुआ वास्तव में ऐसा ही है। यदि हम कहें कि हिन्दी का 'लहुरा' (अवस्था या वय के विचार से छोटा) सं० 'लघुक' से निकला है, तो इसमें किसी को विशेष आपत्ति न होगी। पर यदि कहा जाय कि हिन्दी का 'हलका' शब्द भी उसी 'लघुक' से व्युत्पन्न है, तो इसके लिए यह व्याख्या करनी पड़ेगी कि पहले लघुक से लहुक हुआ; और तब उसका रूप हलुक हुआ जो आगे चलकर 'हलका' हो गया। आपने सुना होगा कि कभी कभी कुछ बालक जमीन को मजीन कह जाते हैं, कहीं लोग पहुँचना को चहुँपना कह देते हैं और कहीं मतलब को मतबल कह बैठते हैं। हिन्दी के पुराने कवियों ने 'कल्मष' की जगह 'कलमस' तो दिया ही है, पर कुछ कवियों ने 'कसमल' का भी प्रयोग किया है। शब्दों में होनेवाले जिस प्रकार के परिवर्त्तन पहले बतलाये जा चुके हैं, यहाँ उन सब परिवर्त्तनों से भिन्न और एक नये प्रकार का परिवर्त्तन देखने में आता है। अर्थात् आगे का कोई वर्ण पीछे या पीछे का कोई वर्ण आगे हो गया है। इस प्रकार का परिवर्त्तन वर्ण-विपर्यय या वर्ण-व्यत्यय कहलाता है।

यह तो हुई शब्दों के रूपों में होनेवाले परिवर्त्तनों की बात, बहुत कुछ इसी प्रकार के परिवर्त्तन और विकास शब्दों के अर्थों में भी होते हैं। पहले कोई शब्द कहीं किसी अर्थ में चलता है, और आगे चलकर कहीं कोई दूसरा अर्थ देने लगता है; और कहीं उसका अर्थ बिलकुल उलट जाता है। भाषा-विज्ञान में शब्द का पुराने या मूल अर्थ से रहित या हीन होकर किसी नये और बिलकुल भिन्न या विपरीत अर्थ से सम्बद्ध होना अर्थापदेश कह-

लाता है। कभी कभी कोई नया अर्थ या भाव प्रकट करने के लिए किसी पुराने शब्द के आधार पर कोई नया शब्द बना लिया जाता है; और कभी कोई आधार न मिलने पर कोई नया शब्द गढ़ भी लिया जाता है। कभी कभी किसी दूसरी भाषा का कोई शब्द देखकर उसी तरह का नया शब्द बना लिया जाता है। ऐसे शब्दों के अलग अलग नाम और भेद निश्चित किये गये हैं। जैसे—तत्सम, अर्द्ध-तत्सय, तद्भव, अनुकरणवाचक, देशज, तदर्थी आदि। निरुक्त में इसी बात का विचार किया जाता है कि भाषा में शब्द किस प्रकार बनते-बिगड़ते हैं और उनके अर्थ किस प्रकार अदलते-बदलते हैं। मुख्यतः यही काम आज-कल के भाषा-विज्ञान का भी है; यह बात दूसरी है कि उसका कार्य-क्षेत्र निरुक्त के कार्य-क्षेत्र की अपेक्षा कुछ विकसित और विस्तृत हो गया है; और उसमें बहुत-सी नई बातों और नये विषयों का समावेश हुआ है।

हमारे यहाँ के निरुक्त का सम्बन्ध तो वैदिक और संस्कृत भाषा के शब्दों से ही था, पर आधुनिक भाषा-विज्ञान के पंडितों ने संसार भर की सभी बड़ी बड़ी भाषाओं का भी अध्ययन किया और उनके शब्दों के रूपों तथा अर्थों के विकास का विवेचन किया है। उन्होंने यह बतलाया है कि भिन्न भिन्न जातियों और देशों के पारस्परिक सम्पर्क के फल-स्वरूप उनमें शब्दों और अर्थों का आदान-प्रदान भी खूब होता है; और वे दूसरों से नये शब्द लेकर अपनी अपनी आवश्यकता और प्रकृति के अनुसार उनके रूप तथा अर्थ विकसित करते हैं। आज-कल कोई ऐसी बड़ी या साहित्यिक भाषा नहीं है जिसमें दूसरी अनेक भाषाओं के सैकड़ों-हजारों शब्द और अर्थ आकर पूरी तरह से घुल-मिल न गये हों।

सारांश यह कि शब्दों के रूपों और अर्थों का विकास हजारों बरसों में होता है; और अलग अलग भाषाओं तथा देशों में

अलग अलग प्रकार से होता है। महर्षि यास्क और उनके पहले के आचार्यों ने अपने समय के प्रचलित शब्दों और अर्थों का बहुत अच्छा विवेचन किया था, और उनमें होनेवाले परिवर्त्तनों तथा विकारों के सम्बन्ध में बहुत ही पुष्ट और व्यापक नियम ढूँढ़कर स्थिर किये थे। आज-कल के भाषा-विदों ने उन नियमों के आश्रय से संसार भर की बड़ी बड़ी भाषाओं से सम्बन्ध रखने-वाले ऐसे बहुत-से नये नियम ढूँढ़ निकाले हैं और उनके सम्बन्ध में नये सिद्धान्त स्थिर करके इस विवेचन को पहले की अपेक्षा बहुत अधिक आगे बढ़ाया है।

अब अपनी हिन्दी की बात लीजिए। मूलतः यह संस्कृत और प्राकृतों की सन्तान और उत्तराधिकारिणी है। इसका सारा ढाँचा बहुत कुछ स्वतन्त्र होने पर भी संस्कृत और प्राकृतों की कृपा से बना है। हजारों वर्षों से इसके शब्दों और अर्थों का जो विकास होता आया है, उसपर भारतीय सीमाओं के आस-पास के देशों की भाषाओं की तो बहुत कुछ छाया पड़ी ही है; दूरस्थ अरबों, तुर्कों, पुर्त्तगालियों, स्पेनियों, अँगरेजों आदि के सम्पर्क के कारण उनकी भाषाओं की भी इस पर बहुत-कुछ छाप लगी है। तात्पर्य यह कि हिन्दी का संस्कृत और प्राकृतों से ही नहीं, पचीसों-पचासों दूसरी ऐसी अनेक जातियों की भाषाओं से भी बहुत-कुछ शब्द-सम्बन्ध है, जिनके साथ भारतवासियों का राजनीतिक, व्यापारिक या सामाजिक सम्बन्ध रहा है। फलतः आज-कल के उन्नत भाषा-विज्ञान के विस्तृत नियमों और सिद्धान्तों ने हिन्दी शब्दों की निरुक्ति का स्वरूप बहुत-कुछ बदल दिया है। एक ओर तो उन नियमों और सिद्धान्तों ने हमारे लिए निरुक्ति का मार्ग बहुत-कुछ सुगम कर दिया है; पर दूसरी ओर उन्हीं नियमों और सिद्धान्तों के विस्तार और व्यापकता ने साधारण जिज्ञासुओं को कई तरह की उलझनों में डाल दिया है। हम थोड़े-से पुराने

और थोड़े-से नये नियमों और सिद्धान्तों के आधार पर ही शब्दों की व्युत्पत्तियाँ ढूँढ़ने और स्थिर करने बैठ जाते हैं; और इसी लिए प्रायः धोखा खाते हैं। 'धोखा' शब्द शायद इस प्रसंग में कुछ उग्र जान पड़े, पर बात कुछ ऐसी ही है।

हिन्दी कोशों के क्षेत्र में शब्दों की निरुक्ति या व्युत्पत्ति की ओर सबसे पहले हिन्दी शब्द-सागर के सम्पादकों का ध्यान गया था। उस समय एक तो हिन्दीवालों का निरुक्ति-सम्बन्धी ज्ञान बहुत ही सीमित था; क्योंकि तब तक इस शास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाला बहुत ही थोड़ा साहित्य सामने था। तिस पर शब्द-सागर के सम्पादकों के सामने कोश के अन्यान्य अंगों के जो बहुत-से बड़े-बड़े काम थे, उनकी तुलना में निरुक्ति का प्रश्न कुछ गौण-सा हो गया था। फिर भी व्युत्पत्ति का महत्त्व उनकी दृष्टि में कम नहीं था। यदि शब्द-सागर में व्युत्पत्ति की ओर ध्यान न दिया जाता तो हिन्दी के उच्च कोटि के विद्वान् और विद्यार्थी उसे इस दृष्टि से सदा त्रुटिपूर्ण ही समझते; क्योंकि व्युत्पत्ति के बिना किसी शब्द के ठीक अर्थ या आत्मा तक पहुँचना बहुत ही कठिन होता है। किसी चीज का ठीक स्वरूप तो उसका आधार या तह ही बतलाती है। आज-कल जो लोग हिन्दी शब्द-सागर में दी हुई व्युत्पत्तियों की हँसी उड़ाते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि यदि वे स्वयं उस जमाने में और उन परिस्थितियों में होते, तो शायद उससे कुछ भी अधिक न कर पाते। हवाई जहाजों के युग में बैल-गाड़ियों की हँसी भले ही उड़ा ली जाय, पर वास्तव में ये गाड़ियाँ ही हवाई जहाजों की जननी हैं। और इस दृष्टि से समझदार सदा हिन्दी शब्द-सागर का व्युत्पत्तिवाला अंश, प्रथम प्रयास होने के कारण, आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखेंगे।

प्रायः सभी भाषाओं में कुछ शब्दों की बनावट या रूप ही

इतना सरल और उनका उच्चारण इतना सुगम होता है कि हजारों वर्ष बीत जाने पर भी वे प्रायः ज्यों के त्यों बने रहते हैं और सब जगह समान रूप से चलते रहते हैं। जैसे—आसन, कमल, ताला, दाम, नल, पान, बाल, मेल, राग, रेल, लेख, हाल आदि। पर कुछ शब्दों के रूप ऐसे विकट होते हैं कि साधारण और विशेषतः अशिक्षित लोग सहज में उनका उच्चारण नहीं कर सकते; और इसी लिए साहित्यिक क्षेत्र के बाहर अर्थात् लोक-क्षेत्र में उनके रूप बहुत-कुछ बदल जाते हैं; यहाँ तक कि दोनों की भाषा एक दूसरी से बहुत कुछ भिन्न हो जाती है। जो लोग आश्चर्य, दुग्ध, धृष्ट, प्रजा, भ्रातृ, स्थिर आदि का ठीक उच्चारण नहीं कर सकते, वे उनके अचरज, दूध, ढीठ, परजा, भाई, थिर आदि रूप बना लेते और उनसे अपना काम चलाते हैं। इसी नियम के अनुसार कबीर ने 'उष्ट्र' को 'उसट' और 'काष्ठ' को 'कासट' रूप दिया है। ऐसे शब्दों की व्युत्पत्तियाँ ढूँढ़ते समय मूल और स्थूल रूप से सब का ध्यान शब्दों के रूप-साम्य और अर्थ-साम्य की ओर ही जाता है। यही निरुक्ति शास्त्र की आधार-शिला है। आज भी साधारण विद्यार्थी बिना किसी शास्त्र या शास्त्री की सहायता के समझ लेता है कि साग शाक से, सूखा शुष्क से और हाथ हस्त से निकला या बना है[1]।

१. एक मजेदार बात याद आ गई। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने मिरजापुर के एक देहाती हिन्दी शिक्षक का किस्सा मुझे सुनाया था। वे शिक्षक महोदय शब्दों के रूप-साम्य और अर्थ-साम्य के आधार पर व्युत्पत्तियाँ स्थिर करने में बहुत दक्ष समझे जाते थे। एक बार शुक्ल जी ने बिलकुल अनजान बनकर उन शिक्षक महोदय से पूछा था—'क्यों पण्डित जी, हरदी (हल्दी) तो सं० हरिद्रा से निकला है, पर 'सरदी' शब्द कैसे बना है ?' पंडित जी ने चट उत्तर दिया—सरिद्रा से।

परन्तु शब्दों के रूपों में इस प्रकार के परिवर्त्तन बिलकुल मन-माने ढंग से नहीं हुआ करते। विद्वान् लोग बराबर वे नियम ढूँढ़ते रहते हैं, जिनके अधीन शब्दों के रूप बदलते हैं। एक ही तरह के दस-बीस परिवर्त्तन देखकर वे साधारणीकरण की प्रक्रिया से कुछ नियम और यदि हों तो उनके अपवाद भी निश्चित कर लेते हैं। इस प्रकार के नियम और सिद्धान्त दिन पर दिन बढ़ते और जटिल होते जाते हैं। पर उनसे नये नये तथ्य बराबर सामने आते रहते हैं।

उदाहरणार्थ हिन्दी 'खंभा' की व्युत्पत्ति पहले सं० 'स्तंभ' से मानी जाती थी, और अब तक कुछ लोग भूल से ऐसा ही मानते चलते हैं। पर आज-कल की नई खोज हमें यह बतलाती है कि 'स्तंभ' से तो 'थंभ' या 'थंभा' ही बन सकता है, 'खंभा' नहीं; क्योंकि नियमतः त का कभी ख नहीं होता। 'खंभा' वस्तुतः 'स्कंभ' से निकला है, क्योंकि क का ख होना बिलकुल स्वाभाविक है। संस्कृत में 'नायक' का स्त्री-लिंग 'नायिका' तो होता ही है। पर हिन्दी में एक 'नायका' शब्द भी चलता है, जो वेश्याओं से सम्बद्ध है। इस अर्थ में 'नायका' सं० 'नायिका' से नहीं निकला है, बल्कि वह गाने-बजाने का पेशा करनेवाली 'नायक' जाति से बना है। भूलना सं० विह्वल से नहीं, प्रा० भुल्लइ से और मकुना सं० मनाक से नहीं, मत्कुणः से निकला है। 'नटनि' सं० 'नर्त्तन' से नहीं, बल्कि 'नटन' से और मीच सं० मृत्यु से नहीं, बल्कि मीति से निकला है। 'कलेजा' सं० यकृत से नहीं, बल्कि सं० कालेय से बिना है।

हिन्दी के निकलना-निकालना शब्द पहले सं० निष्कासन से व्युत्पन्न माने गये थे; और यह समझ लिया गया था कि इसके निकसना-निकासना और निसरना-निसारना सरीखे रूप भी इसी निष्कासन से निकले होंगे। पर अब अधिक छान-बीन

होने और नये नियमों का पता लगने पर लोग समझ गये हैं कि निकालना सं० निष्कालन से, निकासना सं० निष्कासन से और निसरना सं० निस्सरण से निकला है। पति या प्रियतम के अर्थ में 'ढोला' हिं० ढोल से नहीं, बल्कि उसी 'दुर्लभ' से निकला है, जिससे 'दूल्हा' बना है। 'नटसाल' सं० नस्त शल्य से, 'डगरा' सं० 'डलक' से और 'दमड़ी' सं० द्म्म या दाम से व्युत्पन्न है, द्रविण से नहीं। 'सकाना' अ० 'शक' से नहीं, बल्कि सं० शंका से बना है, क्योंकि उसका अर्थ 'संदेह करना' के सिवा 'डरना' भी है, जिसका संबंध आशंका से है। इसी प्रकार 'पाहुना' (प्राघूर्ण से नहीं) प्राहुणः से, प्यार (प्रीति से नहीं) प्रियकारः से, लादना (लब्ध से नहीं) लर्दन से, साँड़ (षंड से नहीं) सांडः (स + अंडः) से निकला है; और 'सट्टा' देशज नहीं, बल्कि सं० सार्थ से व्युत्पन्न है। सम्बन्ध-वाचक मामा अनु० नहीं बल्कि सं० मामकः से बना है; लासा हिं०लस से नहीं, बल्कि सं०श्लेषा से और थोक सं० स्तोक से बना है। मछली की व्युत्पत्ति सं० मत्स्य से नहीं हो सकती। 'मत्स्य' से तो 'मच्छ' ही बनेगा; और तब मच्छ का स्त्री० अल्पा० रूप मछली होगा। हिन्दी में प्रचलित 'लामा' शब्द तिब्बती भाषा का तत्सम शब्द नहीं है, बल्कि तिब्बती 'ब्लामा' का तद्भव रूप है, जिसका मूल अर्थ है—वैरागी या संसार-त्यागी साधु। इस प्रकार की और भी सैंकड़ों-हजारों भ्रमपूर्ण व्युत्पत्तियाँ हिन्दी शब्द-सागर में मिलती हैं, जिनमें से बहुतों का सुधार प्रामाणिक हिन्दी कोश में और कुछ का उल्लेख उसकी प्रस्तावना में किया गया है। ज्यों ज्यों हम लोगों का निरुक्त-संबंधी ज्ञान बढ़ता जाता है, त्यों त्यों ऐसी बहुत-सी भूलें सामने आती चलती हैं और उनका सुधार होता चलता है।

पर हिन्दी के सब शब्द सीधे संस्कृत से ही नहीं आये हैं; बहुत-से शब्द दूसरी भाषाओं से भी आये हैं। हिन्दी में

जो 'तूफान' अरबी से लिया गया है, उसका मूल चीनी ताई-फू है; लीची (फल) चीनी ली-चू से बना है। रिक्शा (सवारी) का मूल जापानी जिन-रिक्-शा है, और छागल (पैर में पहनने का गहना) पश्तो से आया है। नीलाम पुर्त्तगाली लेलम से और गमला पुर्त्तगाली गैमेलो से बना है। बहुत-से शब्दों और उनके अर्थों तथा रूपों में कई तरह के हेर-फेर भी हो जाते हैं, जिससे शब्दों की निरुक्ति ढूँढ़ने के लिए बहुत दूर तक दृष्टि दौड़ानी पड़ती है। आज-कल कव्वाली नाम का जो गाना बहुत प्रसिद्ध हो रहा है, वह वस्तुतः अ० कवाल से चला है; और 'कवाल' प्राचीन अरब तथा यूनान में एक प्रकार की बाँसुरी को कहते थे। आज-कल हमारे यहाँ चंग वह बाजा कहलाता है जो काठ के गोल घेरे पर चमड़ा मढ़कर बनाया जाता है और जिसे डफ भी कहते हैं। पर प्राचीन फारस में 'चंग' सितार की तरह का तार लगा हुआ एक बाजा होता था, और वहीं से यह शब्द हिन्दी में आया है। आज-कल हम जिसे तानपूरा कहते हैं, उसका मूल वस्तुतः फा० का तम्बूर है और उसकी शुद्धि करके हिन्दू गवैयों ने उसे तानपूरा बना लिया है। 'चुनौती' की व्युत्पत्ति हिन्दी शब्द-सागर में चुनचुनाना या चूना मानी गई थी, जो ठीक नहीं है। 'चुनौती' और 'चूना' (संज्ञा) में कोई सम्बन्ध नहीं है। चूना से 'चुनौटी' शब्द तो जरूर बना है, जो चूना रखने की डिबिया का वाचक है और जिसके अन्त में उसी 'औटा' प्रत्यय का स्त्री० लिंग रूप 'औटी' लगा है जो कजरौटा, लखौटा आदि में दिखाई देता है। पर 'चुनौती' शब्द उससे भिन्न है और 'चुनाव' से बना है। जब किसी से कहा जाता है कि तुम्हारे सामने ये ये बातें हैं; इनमें से अपने लिए जो चाहो, वह चुन लो, तब उस अवस्था को 'चुनौती' कहते हैं। यह बात दूसरी है कि स्वयं 'चुनाव' शब्द सं० चयन से निकला हो। परन्तु इसी अधार पर 'चुनौती' शब्द

सं० चयन से व्युत्पन्न नहीं माना जा सकता; वह 'चुनाव' से ही बना हुआ माना जायगा।

'चाँदनी' शब्द हिन्दी में चन्द्रमा के प्रकाश के लिए तो प्रचलित है ही, परन्तु फर्श पर बिछाया जानेवाला या छत से सटाकर ताना जानेवाला कपड़ा भी 'चाँदनी' कहलाता है। पहले ठीक जानकारी न होने के कारण दोनों की व्युत्पत्ति 'चाँद' से ही मानी गई थी। पर बाद में एक विद्वान् ने ऐतिहासिक अनुसन्धान के प्रसंग में यह पता लगाया कि नूरजहाँ ने पहले-पहल अपने महल में चन्दन के रंग का एक फर्श बनवाया था, जो 'फर्श चन्दनी' कहलाता था; और उसी से बिछाये जानेवाले कपड़े के अर्थ में 'चाँदनी' शब्द प्रचलित हुआ, जो आगे चलकर छत के साथ सटाकर ताने जानेवाले कपड़े के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। चन्द्रमावाली चाँदनी या ज्योत्स्ना से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। एक प्रकार का पहाड़ी मोटा कम्बल होता है, जो 'थुलमा' कहलाता है; और एक प्रकार का बहुत मोटा सूती कपड़ा होता है, जो 'सलीता' कहलाता है। पहले इनकी व्युत्पत्ति का पता नहीं चला था। पर अब पता चला है कि ये दोनों शब्द क्रमात्, सं० 'उल्वण' और 'सत्तलिका' से निकले हैं।

आज-कल देश भर के बाजारों में मूँग-फली खूब बिकती है। फली तो वह है ही, पर 'मूँग' से उसका क्या सम्बन्ध है? न तो उसके दाने मूँग की दाल की तरह होते हैं, न दोनों के पौधे एक-से होते हैं। फिर यह मूँग-फली में का 'मूँग' आया कहाँ से? वास्तविक बात यह है कि ये फलियाँ पौधे की जड़ में जमीन के नीचे लगती हैं। इसी कारण जिस तरह अँगरेजी में इसे 'ग्राउन्ड नट' कहते हैं, उसी तरह इसके भारत में आने पर (सम्भवतः बम्बई और गुजरात में) इसे पहले 'भूमि-फली' कहते थे। भूमि-फली से भूम-फली और तब मूम-फली रूप हुआ; और वही आगे चलकर

इसलिए मूँग-फली हो गया कि लोग 'मूम' के उच्चारण की अपेक्षा अपने 'मूँग' का उच्चारण अधिक स्पष्टता से कर सकते थे।

हिन्दी का एक प्रसिद्ध शब्द है—लिबड़ी-बरताना। बहुत दिनों तक लोग इस चक्कर में थे कि यह पद कहाँ से आया या कैसे बना। पर खोज करनेवाले लोग उसके मूल तक पहुँच ही गये। बात यह है कि जब अँगरेज या शायद उनसे भी पहले यूरोपियन यहाँ आकर अधिकार जमाने लगे थे, तब वे अपनी रक्षा के लिए कुछ सिपाही रखते थे, और उन्हें पहनने के लिए वर्दी और हाथ में रखने के लिए डण्डा देते थे। वह वर्दी अँगरेजी में 'लिवरी' कहलाती है और डण्डा 'बैटन' कहलाता है। कभी-कभी ऐसा होता था कि सिपाही अपनी वर्दी और डण्डा लेकर भाग जाते थे। दूसरे सिपाही अपने अधिकारी को सूचना देने के समय कहते थे—वह लिबरी-बटाना लेकर भाग गया। इस प्रकार हिं० का लिबड़ी-बरताना अँगरेजी 'लिवरी' और 'बैटन' से बना है। शब्दों की इस प्रकार की व्युत्पत्तियाँ बहुत-कुछ खोज के बाद ही धीरे-धीरे सामने आती हैं।

कभी कभी अर्थ-साम्य और रूप-साम्य में परस्पर विरोध होने के कारण शब्दों की व्युत्पत्ति स्थिर करना बहुत कठिन हो जाता है। ऐसी कठिनता मुझे 'सही'[१] शब्द की व्युत्पत्ति ढूँढ़ने के समय कुछ विकट रूप में प्रतीत हुई थी। अरबी का विशेषण शब्द सही (शुद्ध रूप सहीह) तो है ही, जिसका अर्थ ठीक या दुरुस्त है। इसी से इसका वह स्त्रीलिंग संज्ञावाला रूप बना है, जो हिन्दी में दस्तखत या हस्ताक्षर के अर्थ में प्रचलित है, पर उर्दू में जो शिष्ट-सम्मत नहीं माना जाता। मगर हिन्दी में इसका

---

१. 'सही' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में कुछ बातें आगे चलकर 'अर्थ-विचार' शीर्षक प्रकरण में भी बतलाई गई हैं।

एक अव्ययवाला रूप और अर्थ भी प्रचलित है। जैसे—अच्छा यही सही, आप ही सच्चे सही आदि। उर्दू कवियों ने भी इस शब्द का खूब प्रयोग किया है। यथा—

(क) तुम नहीं और सही, और नहीं और सही।

(ख) सब कुछ सही, पर एक नहीं की नहीं सही। आदि।

मेरे सामने यह विकट समस्या थी कि इस अर्थ में इस शब्द की व्युत्पत्ति क्या मानी जाय। इसके भिन्न-भिन्न अर्थों और प्रयोगों का विचार करने पर पहले मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह सं० सहन से व्युत्पन्न हिं० सहना क्रिया का भूत-कालिक स्त्री० रूप है, जो बोल-चाल में अव्यय के रूप में चल पड़ा है। यह व्युत्पत्ति ठीक मानने का एक कारण यह भी था कि उर्दूवाले यह शब्द भी उसी प्रकार سہی लिखते हैं, जिस प्रकार 'सहना' लिखते हैं, उस प्रकार صحیح नहीं लिखते, जिस प्रकार ठीक का वाचक अरबी वि० सहीह लिखा जाता है। जब हम कहते हैं—अच्छा यह भी सही, तब हमारा आशय होता है—हमने यह बात भी सह या मान ली। इसी से विकसित होकर इसका इस प्रकार का प्रयोग चला—आप वहाँ गये सही। अर्थात् आपने वहाँ जाना सहन कर लिया। इससे आगे बढ़कर यह अव्यय या क्रिया-विशेषण रूप में प्रचलित हुआ। तुलसी ने कहा है—

(क) प्रभु आसुतोष कृपालु शिव,अबला निरखि बोले सही। और

(ख) परसत पद-पावन, सोक-नसावन प्रकट भई तप-पुंज सही।

यहाँ तक तो 'सहना' वाली व्युत्पत्ति ठीक तरह से निभ गई। पर आगे एक और समस्या सामने आई। प्रायः लोग कहते हैं—चुप रहने की सही नहीं; या दौड़ने की सही नहीं। ऐसे अवसरों पर यह शब्द संज्ञा रूप में और प्रामाणिकता या उसके फल-स्वरूप होनेवाली मान्यता के अर्थ में आता है। 'सही' का दस्तखत या हस्ताक्षरवाला जो अर्थ हिन्दी बोल-चाल में

प्रचलित है, वह भी इसी लिए अ० सहीह (ठीक या दुरुस्त) से व्युत्पन्न माना जाता है कि उसमें किसी बात के ठीक या प्रामाणिक होने की सूचना का भाव है। 'चुप रहने की सही नहीं' में भी वही प्रामाणिकता का भाव निहित है। अर्थात् चुप रहना ठीक और मान्य नहीं है, वह नियम, व्यवहार आदि के विरुद्ध है। अतः इस अर्थ में भी यह अ० सहीह से व्युत्पन्न माना जाना चाहिए। जब इस दृष्टि से व्युत्पत्ति निश्चित करने में फिर कठिनता हुई, तब उर्दू कोशों की शरण लेनी पड़ी। फरहंग आसफिया में अव्ययवाले अर्थ में भी इसे अ० सहीह का-ही बिगड़ा हुआ रूप माना है; पर नूर-उल्-लुगात में इस अर्थ के संबंध में कोई व्युत्पत्ति नहीं दी है। हाँ, उसके बाद एक दूसरा शब्द दिया है, जो वस्तुतः फारसी का है और जिसका शुद्ध रूप 'सिही' है। इसका अर्थ ऋजु या सीधा (टेढ़ा या वक्र का विपर्याय) है। पर हिन्दी और उर्दू में 'सही' शब्द जिन अर्थों में प्रचलित है, उनका इस फा० 'सिही' से कोई सम्बन्ध नहीं है। फेलन ने उक्त अर्थों में 'सही' शब्द सं० अस् धातु से व्युत्पन्न माना है। बहुत कुछ विचार करने पर अन्त में मुझे यही मानना पड़ा कि अव्यय और क्रिया-विशेषणवाले अर्थों में यह हिं० 'सहना' से निकला है और स्त्री० संज्ञावाले अर्थों में अ० सहीह से। पर हो सकता है कि और अधिक विचार करने पर सं० स्था धातु या स्थित, स्थिति सरीखे शब्दों से इसका कुछ सम्बन्ध निकल आवे; क्योंकि कुछ प्रयोगों में उनसे भी इसका बहुत-कुछ अर्थ-साम्य दिखाई देता है। और इससे भी बढ़कर यह शब्द सं० सिद्ध से व्युत्पन्न हो सकता है। ऊपर जो उदाहरण, विशेषतः तुलसी के उदाहरण दिये गये हैं, उनसे यही लक्षित होता है कि यह बात सिद्ध (ठीक या निश्चित) है कि अमुक घटना घटित हुई। जो हो, है अब भी यह बात विचारणीय ही।

कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं, जिनके मूल तक पहुँचने का जल्दी कोई रास्ता ही नहीं दिखाई देता। ऐसे शब्दों की व्युत्पत्ति ढूँढ़ने के लिए बहुत बुद्धि लड़ानी पड़ती है; और कभी कभी क्लिष्ट कल्पना भी करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए हिन्दी का एक प्रसिद्ध शब्द है—जोखिम। हिन्दी शब्द-सागर में यह शब्द हिं० 'झोंका' से व्युत्पन्न माना गया है; पर यह व्युत्पत्ति विशेष संगत नहीं जान पड़ती। यह ठीक है कि झोंकी और जोखिम समानार्थी शब्द हैं; पर व्युत्पत्ति के विचार से ये शब्द एक दूसरे से भिन्न हैं। कुछ लोगों ने इसे 'योग-क्षेम' से व्युत्पन्न माना है; और दोनों शब्दों के रूप-साम्य के विचार से इसे ठीक मानने में उतनी आपत्ति भी नहीं है। पर दोनों में अर्थ-साम्य नहीं, बल्कि अर्थ-वैषम्य है; और इस वैषम्य का कारण यह माना जा सकता है कि कुछ अवस्थाओं में शब्दों के रूप-परिवर्त्तन के साथ साथ अर्थ भी कुछ उलट या बदल जाते हैं। और इस बात का ध्यान रखते हुए कहा जा सकता है कि जिस अवस्था में योग-क्षेम के सम्बन्ध में आशंका हो अथवा उसमें व्याघात होने की सम्भावना हो, उसे जोखिम कहते हैं। यहाँ अर्थापदेशवाला तत्त्व काम करता हुआ दिखाई देता है।

कभी कभी एक ही शब्द की कई व्युत्पत्तियाँ सामने आती हैं; और यह निर्णय करना कठिन होता है कि कौन-सी व्युत्पत्ति ठीक है। उदाहरण के लिए हिन्दी का प्रसिद्ध शब्द गाड़ी लीजिए। कुछ लोग इसे सं० गंत्री से व्युत्पन्न मानते हैं; पर इस सम्बन्ध में कुछ आपत्तियाँ भी हो सकती हैं। 'गाड़ी' शब्द के कुछ पुराने और स्थानिक रूप भी हैं; जैसे—गाड़ा गड्डा, गड्डी आदि; और कुछ स्थानों में इसके पुं० रूप ही प्रचलित हैं। स्त्री० शब्दों से उनके पुं० रूप बनते तो अवश्य हैं, पर बहुत कम। हाँ, पुं० से स्त्री० रूप बहुत अधिक बनते हैं। 'गाड़ी' शब्द के जो पुराने और स्थानिक

रूप हैं, वे अधिकतर पुं०ही हैं; और इस दृष्टि से अधिक सम्भावना इसी बात की जान पड़ती है कि यह किसी पुं० शब्द से ही बना होगा, स्त्री० शब्द से नहीं। फिर 'गंत्री' शब्द प्राचीन संस्कृत का नहीं, बल्कि परवर्त्ती या मध्य-कालीन संस्कृत का है। 'गाड़ी' नाम की चीज जितनी पुरानी है, 'गंत्री' शब्द उतना पुराना नहीं है। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि गाड़ी की ठीक व्युत्पत्ति भूल जाने पर लोगों ने इसका संस्कृतीकरण करके गंत्री शब्द बना लिया हो। 'गाड़ी' की व्युत्पत्ति किसी अधिक प्राचीन शब्द से होनी चाहिए। सुप्रसिद्ध विद्वान् टर्नर ने अपने नेपाली-अँग्रेजी कोश में इसे सं० गार्त्त से व्युत्पन्न माना है, जिसका अर्थ है—रथ अथवा उस पर रथी के बैठने का आसन। फिर गार्त्त (दूसरा रूप गर्त्त) का अर्थ गड्ढा भी है। पुराने जमाने में कच्ची सड़कों पर रथों के आने-जाने से गड्ढे पड़ ही जाते थे। और इस दृष्टि से भी इसे 'गार्त्त' से निकला हुआ मान सकते हैं।

इन सब बातों का तात्पर्य यही है कि ज्यों ज्यों अधिक विचार होता है और नई बातें सामने आती हैं, त्यों त्यों निरुक्ति के क्षेत्र में अनेक प्रकार के संशोधन होते चलते हैं। अनेक बड़े बड़े विद्वानों ने भिन्न-भिन्न भाषाओं के संबंध में निरुक्त की दृष्टि से बहुत-कुछ विचार करके अनेक नये नियम और सिद्धान्त स्थिर किये हैं, जिनसे यह विषय बहुत ही गम्भीर और चिन्तनीय हो गया है और इसकी जटिलताएँ बहुत बढ़ गई हैं। अनेक प्राचीन भाषाओं के उद्भट विद्वान् और विशेषज्ञ ही इस क्षेत्र में अधिकारपूर्वक कुछ कह सकते हैं। हिन्दी में इस क्षेत्र में बहुत कम काम हुआ है। हिन्दी शब्दों की व्युत्पत्ति बतलानेवाले एक स्वतंत्र कोश की बहुत बड़ी आवश्यकता है। ऐसा कोश निरुक्त शास्त्र के बहुत बड़े पंडित ही तैयार कर सकते हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल इस क्षेत्र में बहुत बड़ा काम

कर रहे हैं; पर इसमें बहुत अधिक समय लगेगा। जब तक ऐसा कोश तैयार न हो जाय, तब तक साधारण शब्द-कोशों में इसका जो कुछ विवेचन हो जाय, वही जन-साधारण के लिए बहुत माना जायगा।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से हम अन्त में एक नये प्रकार के कुछ शब्दों के सम्बन्ध में एक बात इसलिए बतला देना आवश्यक समझते हैं कि उसके बिना यह विवेचन अधूरा रह जायगा। यह तो सभी लोग जानते हैं कि हिन्दी के राष्ट्र-भाषा हो जाने के कारण उसमें सैकड़ों प्रकार के हजारों नये शब्द बनाना अनिवार्य हो गया है। शब्द-निर्माण के इस काम में अनेक प्रकार के विद्वान लग गये हैं और हजारों नये शब्द बनने लगे हैं। इनमें से कुछ शब्द तो संस्कृत व्याकरण के नियमों के अनुसार बनते हैं; और कुछ उन नियमों का अतिक्रमण करके बनाये जाते हैं। यह ठीक है कि जहाँ तक हो सके, नियमों का पालन करना चाहिए। पर बहुत दिनों से मेरी यह धारणा चली आ रही है कि जहाँ नियमों का उल्लंघन किये बिना काम न चलता हो, वहाँ पुराने नियमों के अनुकरण पर कुछ नये नियम भी बनाने की छूट रहनी चाहिए। इस बात की विशेष आवश्यकता अपने प्रिय मित्र श्री गोपाल-चन्द्र सिंह (सत्रिक जज उ० प्र०) के साथ मैंने उस समय (सं० २००५) प्रतीत की थी, जब हम लोग ना० प्र० सभा काशी के लिए राजकीय कोश बना रहे थे। उस समय हम लोगों के सामने अँगरेजी के एसेसी, ड्रॉई, नॉमिनी (Assessee, Drawee, Nominee) सरीखे शब्द आये, जिनके लिए हिन्दी पर्याय स्थिर करना आवश्यक था। बहुत ढूँढ़ने पर भी संस्कृत व्याकरण का कोई ऐसा नियम नहीं मिल रहा था, जिसके अनु-सार ऐसे शब्दों के हिन्दी पर्याय एक ढंग से बनाये जा सकें। विचारशील विद्वान् गोपालचन्द्र सिंह जी ने बहुत सोच-समझ-

कर अन्त में शब्दों के साथ 'ी' प्रत्यय लगाना निश्चित किया था; और उसके अनुसार निर्धारिती, आगृहीती, नामांकिती आदि कुछ शब्द बनाये गये थे। सुभीता यह सोचा गया था कि अँगरेजी में जैसे इस प्रकार के शब्दों के अन्त में ee है, उसी प्रकार हिन्दी में भी 'ी' रहेगा; और लोगों को ये रूप चलाने और समझने में कठिनता न होगी। हम यह तो नहीं कह सकते कि ऐसा करना बिलकुल ठीक ही था, पर हाँ, आवश्यक और अनिवार्य तो था ही। ऐसे शब्द संस्कृत व्याकरण के अनुसार सिद्ध न होने के कारण संस्कृत के तो माने नहीं जा सकते, फिर भी बने हैं वे संस्कृत शब्दों से ही। और इसलिए प्रामाणिक हिन्दी कोश में ऐसे शब्दों के आगे निरुक्तिवाले कोष्ठक में उस संस्कृत शब्द का उल्लेख कर दिया गया है,जिसके अन्त में यह नया 'ी'प्रत्यय लगाया गया है। मेरी समझ में ऐसी व्युत्पत्ति दिखलाने का यही ठीक प्रकार जान पड़ता है। इससे यह सूचित हो जाता है कि अमुक शब्द संस्कृत व्याकरण के अनुसार असिद्ध होने पर भी बना है संस्कृत शब्द के आधार पर ही।

अब हम यहाँ संक्षेप में यह भी बतला देना चाहते हैं कि कोश में शब्दों की निरुक्ति या व्युत्पत्ति किस रूप में दिखाई जानी चाहिए। इनमें से कुछ बातें तो हिन्दी शब्द-सागर के सम्पादन के समय निश्चित हुई थीं; और कुछ बातें मैंने प्रामाणिक हिन्दी कोश के सम्पादन के समय स्थिर की हैं। यह ठीक है कि हिन्दी में संस्कृत शब्दों की उस प्रकार की व्युत्पत्ति देने की आवश्यकता नहीं है, जिस प्रकार की संस्कृत कोशों में दी जाती है। हमें 'आशा' के सम्बन्ध में आ+अश्+अच् +टाप् अथवा 'सधवा' के सम्बन्ध में 'सह धवेन या' बतलाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि साधारण हिन्दी पाठकों का इससे कोई लाभ न होगा। ऐसे शब्दों के आगे व्युत्पत्तिवाले कोष्ठक

में केवल सं० लिख देने से काम चल जाता है। पर कुछ अवस्थाओं में यदि सन्धि का विच्छेद कर दिया जाय या समास का स्पष्टीकरण कर दिया जाय तो उससे जिज्ञासुओं को अर्थ समझने में बहुत सुभीता भी हो सकता है और उनका ज्ञान भी बढ़ सकता है। हिन्दी शब्द-सागर में संस्कृत के ऐसे शब्दों के आगे केवल सं० लिखकर छोड़ दिया गया है, जो मेरी समझ में यथेष्ट नहीं है। यदि 'अनशन' के आगे सं अन्+अशन, 'निषेधाधिकार' के आगे निषेध+अधिकार, 'प्रत्यर्पण' के आगे प्रति+अर्पण और 'सर्वथैव' के आगे सर्वथा+एव दे दिया जाय तो अधिक उत्तम होगा। हाल के बने कई कोशों में शब्दों के आगे व्युत्पत्ति की जगह लिखा मिलता है—हिन्दी, उर्दू, संस्कृत आदि। पर उच्च श्रेणियों के विद्यार्थियों और अच्छे जिज्ञासुओं का काम ऐसी बातों से नहीं निकलता। हिन्दी शब्दों का मूल बतलाना आवश्यक होता है। यह बात दूसरी है कि दो शब्दों के योग से बने हुए शब्दों के आगे यह संकेत कर दिया जाय कि ये दोनों शब्द हिन्दी-हिन्दी, हिन्दी-फारसी या संस्कृत-हिन्दी के हैं। जैसे—कफन-खसोट अरबी-हिन्दी है, गुलाब-जामुन फारसी-हिन्दी है और दिल्लगीबाज हिन्दी-फारसी है। अब देखनेवाले शब्द के दोनों खंडों के शब्द अलग अलग देखकर उनके मूल रूप जान सकते हैं। पर अरबी, फारसी या संस्कृत के जो शब्द हिन्दी में कुछ भी बदले हुए रूप में चलते हों, उनके आगे मूल शुद्ध रूप दिखलाना आवश्यक है। अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओं के जो शब्द आकर हमारी भाषा में अच्छी तरह घुल-मिल गये हों, उनकी शुद्ध व्युत्पत्ति बतला देने पर यौगिक शब्दों के अंतर्गत हम उन्हें भी हिन्दी शब्द ही मान लेते हैं। संस्कृत शब्दों के साथ यदि कहीं कहीं उनके प्राकृत, पाली आदि रूप भी दिखा दिये जायँ तो उनसे जिज्ञासुओं को यह समझने में सुभीता होता

है कि यह शब्द किस प्रकार विकृत होकर हिन्दी में आया है। अच्छे व्युत्पत्ति- कोशों में तो प्रायः प्रत्येक शब्द के मूल से लेकर अब तक के वे सभी रूप दिखाये जाते हैं, जो बीच में समय समय पर उन्होंने धारण किये थे। अर्थात् उनमें शब्द के रूप-परिवर्त्तन या विकास का पूरा इतिहास ही संक्षेप में बतला दिया जाता है। साथ ही यह भी बतला दिया जाता है कि भिन्न-भिन्न प्रान्तीय भाषाओं में इस शब्द ने कौन-से रूप धारण किये हैं; अथवा विदेशी भाषाओं में इससे मिलते-जुलते कौन-से रूप प्रचलित हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान् टर्नर ने अपने नेपाली अँगरेजी कोश में शब्दों की व्युत्पत्ति जिस ढंग और क्रम से दिखलाई है, वह एक अच्छा प्रतिमान है। उसमें शब्दों की व्युत्पति दिखाने के लिए संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, मागधी आदि प्राचीन भारतीय भाषाओं के सिवा दूरस्थ इबरानी, सिंहली, काफिरी, यूनानी, अरबी, पहलवी, तिब्बती आदि भाषाओं तक पहुँचने का प्रयत्न किया गया है; और भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं और स्थानिक बोलियों के शब्दों के साथ उनका रूप-साम्य दिखलाया गया है। पर न तो साधारण कोशों में उसका अनुकरण हो सकता है और न ऐसा अनुकरण कर सकना सब के लिए सम्भव है। यह तो उन्हीं महापंडितों का काम है जो सारा जीवन शब्दों के मूल की खोज में बिताकर व्युत्पत्ति-कोश लिखने बैठें। साधारण कोशकार उनके दिखलाये हुए मार्ग और किये हुए अनुसन्धान से बहुत-कुछ लाभ अवश्य उठा सकते हैं। वे अपने पाठकों को शब्द के मूल का अवश्य साधारण परिचय करा सकते हैं।

हिन्दी शब्द-सागर में अरबी-फारसी शब्दों के मूल और शुद्ध रूप देने का अवश्य प्रयत्न किया गया है, पर वह सब जगह एक-सा नहीं है। कहीं कहीं केवल अ० (अरबी) या फा०

(फारसी) लिखकर छोड़ दिया गया है। पर प्रामाणिक हिन्दी कोश में कुछ स्थानों पर फारसी शब्दों के सम्बन्ध में व्युत्पत्ति दिखाने का प्रकार कुछ बदल दिया गया है। वास्तव में फारसी भी हमारे आर्य परिवार की ही भाषा है, और मूलतः संस्कृत से निकली है। वह भी संस्कृत की बहुत-कुछ उसी प्रकार की शाखा है, जिस प्रकार कि बँगला, मराठी, गुजराती आदि हमारी प्रान्तीय भाषाएँ हैं। धार्मिक या राजनीतिक दृष्टि से पारस भले ही हमसे पृथक् हो गया हो, पर जातीयता, भाषा आदि के विचार से वह हमारा ही अंग है। फारसी भाषा की बहुत-सी बातें संस्कृत से इतनी मिलती-जुलती हैं कि वह किसी तरह पराई हो ही नहीं सकती। उसमें भी उसी प्रकार सन्धियाँ होती हैं, जिस प्रकार संस्कृत में। उसमें अज+आँ से अजाँ और दर+ई से दरीं रूप होता है। उसके अधिकतर शब्दों का मूल भी संस्कृत ही है। फारसी का 'कार' रूप और अर्थ दोनों के विचार से बिलकुल वही है, जो सं० कार है। फारसी 'गर' प्रत्यय सं० 'कर' का विकृत रूप है और 'स्तान' सं० स्थान का। फारसी में 'बाल' उसी प्रकार संस्कृत 'बालः' से बना है, जिस प्रकार हिन्दी 'बाल'। फारसी का 'आब' भी सं० आपः का ही अपभ्रंश रूप है। हिन्दी शब्द-सागर में फारसी शब्दों के मूल रूप दिखलाकर आगे लिखा गया है—सि० सं० अमुक शब्द। पर बात केवल मिलान की नहीं है। मुझे जहाँ जहाँ संस्कृत से व्युत्पन्न फारसी शब्द मिलते चलते हैं, वहाँ वहाँ मैं उनकी व्युत्पत्ति का रूप बदलता चलता हूँ; और यह संकेत कर देता हूँ कि इस शब्द ने संस्कृत के अमुक शब्द से बिगड़-कर फारसी में अमुक रूप धारण किया है। पर इसका यही अर्थ समझना चाहिए कि ऐसे शब्द हमारे यहाँ सीधे संस्कृत से नहीं, बल्कि फारसी के द्वारा होकर आये हैं। संस्कृत के कुछ शब्द तो फारसी के द्वारा अरबी तक पहुँच गये हैं; जैसे—कलम। भले ही

यहाँ उसका रूप क़लम قلم हो गया हो और उसमें कुछ नये अर्थ भी लग गये हों, पर उसका मूल सं० ही है। हो सकता है कि अरबी का अख्तर (तारा या सितारा) का संस्कृत नक्षत्र से सम्बन्ध हो, और नेत्र का वाचक अरबी ऐन عين सं० अयन से सम्बद्ध हो। इस 'ऐन' से सम्बद्ध जो 'ऐनक' हम सभी लोगों की आँखों के सामने है, उससे सूचित होता है कि अरबी में भी संस्कृतवाला क प्रत्यय ज्यों का त्यों वर्त्तमान और क्रियाशील है। पर इस प्रकार की बातें हमारे लिए यहाँ विशेष उपयोगी नहीं हैं।

साधारण कोशों में शब्दों की व्युत्पत्ति देने के समय अन्तिम और सबसे अधिक महत्त्व का ध्यान रखने योग्य बात यह है कि कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो अपने एक रूप तथा कुछ विशिष्ट अर्थों में तो किसी एक भाषा से व्युत्पन्न होते हैं और कुछ दूसरे रूप तथा अर्थों में किसी दूसरी भाषा से आये हुए होते हैं। उदाहरण के लिए 'अमल' विशेषण रूप में तो संस्कृत है, पर पुं० संज्ञा के रूप में अरबी से आया हुआ है। 'कन्द' अपने कुछ अर्थों में संस्कृत से आया हुआ शब्द है और कुछ अर्थों में फ़ारसी 'क़न्द' से व्युत्पन्न है। 'कदम' वृक्ष के अर्थ में सं० कदम्ब से और डग या पैर के अर्थ में अ० क़दम से बना है। सकर्मक क्रिया के रूप में 'खाना' सं० खादन से और पुं० संज्ञा के रूप में फा० खानः से बना है। चीरकर बनाये हुए क्षत या घाव के अर्थ में तो 'चीरा' हिन्दी क्रिया 'चीरना' से बना है, पर एक विशेष प्रकार की लहरिएदार पगड़ी के अर्थ में वह सं० चीर से व्युत्पन्न है। अब यह बात दूसरी है कि जिस चीर्ण या चीर्णन से हिं० चीरना बना है, वह भी उसी मूल धातु से बना हो, जिससे सं० चीर बना है। 'जाल' कुछ अर्थों में सं० का तत्सम शब्द है और कुछ अर्थों में अ० जअल का तद्भव। 'पढ़ाई' कुछ अर्थों में 'पढ़ना' से और कुछ अर्थों में 'पढ़ाना' से सम्बद्ध है।

'पाट' कुछ अर्थों में सं० पट से और कुछ अर्थों में सं० पट्ट से बना है। 'संग' कुछ अर्थों में संस्कृत का और कुछ अर्थों में फारसी का शब्द है। बहुत कुछ यही बात 'संगी' (संज्ञा और विशेषण) के सम्बन्ध में भी है। कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं जो अपने भिन्न भिन्न अर्थों में चार-चार और छः-छः भिन्न मूलों से निकले हुए होते हैं। तूल कुछ अर्थों में सं० तत्सम है, कुछ अर्थों में सं० तुल्य से व्युत्पन्न तद्भव है और कुछ अर्थों में अरबी का तत्सम है। हिन्दी शब्द-सागर और प्रामाणिक हिन्दी कोश में अनेक शब्दों की, भिन्न-भिन्न अर्थों के विचार से, पाँच-पाँच और छः-छः तक व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं। इसके सिवा हिन्दी में कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो संस्कृत शब्द के कई भिन्न रूपों से व्युत्पन्न होते हैं। हिन्दी में प्रचलित 'व्रात' कुछ अर्थों में सं० 'व्रातं' से और कुछ अर्थों में सं० 'व्रातः' से आया है। संस्कृत में विशेषण रूप कर, मधुर आदि और संज्ञा रूप करः, मधुरः आदि होते हैं। विशेषण रूप मंगल है; पर कुछ अर्थों में संज्ञा रूप मूलतः मंगलं और कुछ अर्थों में मंगलः होता है। इसलिए व्युत्पत्तिवाले कोष्ठक में ऐसे रूप अलग अलग दिखाकर उनके अर्थ भी इसी विचार से अलग अलग दिये जाने चाहिएँ। हिन्दी शब्द-सागर के सम्पादन के समय इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया गया था; पर प्रामाणिक कोश में यह नया तत्त्व प्रविष्ट किया जा रहा है। ये सब बातें कहने का तात्पर्य यही है कि व्युत्पत्तियाँ देते समय शब्दों के अलग अलग अर्थों पर बहुत अधिक ध्यान देना चाहिए और व्युत्पत्तियाँ बहुत सोच-समझकर स्थिर करनी और ठीक ढंग से दिखलानी चाहिएँ।

९
अर्थ-विचार

शब्दों और अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन करना मूलतः निरुक्त या भाषा-विज्ञान का काम है; और इस पक्ष की कुछ बातों का उल्लेख पिछले प्रकरण में किया जा चुका है। निरुक्त के बाद साहित्य-शास्त्र में कुछ दूसरी दृष्टि से यह विवेचन और अधिक पल्लवित होता है, जहाँ अभिधा, लक्षणा और व्यं-जना नामक शब्द-शक्तियों के आश्रय से इस विषय का और भी सूक्ष्म विचार किया जाता है। उक्त शास्त्रों में सैद्धान्तिक दृष्टि से इस विषय की बहुत अच्छी मीमांसा हुई है; और जो लोग इस विषय की विशेष बातें जानना चाहते हैं, वे उन शास्त्रों का अध्य-यन करते ही हैं। परन्तु कोशकार को भी शब्दों और अर्थों से बहुत काम पड़ता है; बल्कि यों कहना चाहिए कि उसके सारे काम का अधिकांश शब्दों और उनके अर्थों से ही सम्बन्ध रखता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि कोशकार शब्दों और अर्थों के सैद्धान्तिक सम्बन्धवाले क्षेत्र से आगे बढ़कर उनके क्रिया-त्मक सम्बन्धवाले क्षेत्र में प्रविष्ट होता है, जहाँ उसका दृष्टि-कोण बहुत-कुछ बदलकर बिलकुल नया हो जाता है। इस प्रकरण में हम इस विषय का उसी नये दृष्टि-कोण से विचार करते हुए यह बतलाना चाहते हैं कि एक आभिधानिक या कौशिक के कार्य के लिए शब्दों के अर्थ कितने प्रकार के होते हैं अथवा अर्थ के विचार से शब्दों के कितने प्रकार के वर्ग होते हैं। इसी के साथ साथ इस बात का भी विचार हो जायगा कि शब्दों और अर्थों के क्रियात्मक सम्बन्धवाले क्षेत्र में कोशकार कहाँ तक और क्या

काम कर सकता है, अथवा उसे कितना और कैसा काम करना चाहिए।

जैसा कि हम शब्द-संख्यावाले प्रकरण में बतला चुके हैं, शब्द-कोश का वास्तविक महत्त्व उसमें दिये हुए शब्दों के अर्थों और व्याख्याओं पर आश्रित है, क्योंकि उसका मुख्य उपयोग अर्थ और परिभाषा या व्याख्या जानने के लिए ही होता है। कभी-कभी लोग शब्दों के शुद्ध रूप, अक्षरी, निरुक्ति, लिंग, शब्द-भेद आदि जानने के लिए भी कोशों का सहारा लेते हैं; पर कोश का यह उपयोग अर्थोंवाले उपयोग की तुलना में गौण ही होता है। अतः हम कह सकते हैं कि शब्द वस्तुतः शब्द-कोश के शरीर मात्र के रूप में होते हैं; उसके प्राण या आत्मा का स्थान अर्थों और व्याख्याओं को ही प्राप्त है। और इसी लिए यह भी कहा जा सकता है कि जिन कोशों में शब्दों के अर्थ और व्याख्याएँ बिलकुल ठीक, शुद्ध और स्पष्ट न हों और जिनके उपयोग से पाठकों की आशंकाओं का निवारण तथा ज्ञान की वृद्धि न हो, वे कोश बहुत-कुछ निर्जीव या अल्प-प्राण शरीर के समान होते हैं।

अच्छे शब्द-कोश का उपयोग सभी तरह के लोग करते हैं, जिनमें बहुत से अन्य भाषा-भाषी भी होते हैं। यह ठीक है कि हिन्दी शब्द-कोश का उपयोग अधिकतर हिन्दी-भाषी ही करेंगे। पर उसका उपयोग करनेवाले अन्य भाषा-भाषियों की संख्या भी कम न होगी। विशेषतः आज-कल की परिस्थिति में, जब कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा मान ली गई है और उसका अध्ययन तथा प्रचलन भारत के सभी राज्यों में पहले की अपेक्षा बहुत अधिक हो रहा है, हिन्दी के कोशों का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है। अतः हिन्दी के भावी कोशकारों को इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि हमारे दिये हुए अर्थों और व्याख्याओं से अन्य भाषा-भाषी भ्रम में न पड़ें और उनसे ठीक और पूरा लाभ उठा सकें।

अब हम कुछ उदाहरण देकर अपना आशय स्पष्ट करना चाहते हैं। मान लीजिए कि आप कोश में 'भार्या' शब्द का अर्थ देखना चाहते हैं। यदि उसमें आपको उसका अर्थ मिले 'औरत या स्त्री' तो क्या यह अर्थ ठीक होगा ? कदापि नहीं। उसका ठीक अर्थ होगा—जोरू या पत्नी। औरत या स्त्री तो साधारणतः जातिवाचक संज्ञा के रूप में ही प्रचलित है। पर 'भार्या' शब्द पति की अपेक्षा में एक विशिष्ट प्रकार के सम्बन्ध का सूचक है। और उस सम्बन्ध का ध्यान रखते हुए 'भार्या' का ठीक अर्थ होगा—जोरू या पत्नी, न कि औरत या स्त्री। 'खेह' का अर्थ धूल और राख एक साथ देना ठीक नहीं, क्योंकि धूल अलग चीज है और राख अलग। इसी प्रकार बुरा, खराब, अनुचित, ना-मुनासिब सब एक साथ नहीं दिये जाने चाहिएँ। बुरा और खराब एक वर्ग में रहेंगे; और अनुचित तथा ना-मुनासिब दूसरे वर्ग में। उक्त प्रकार के अन्तर के विचार से सब पर्याय बहुत समझ-बूझकर और अलग अलग वर्गों में बाँटकर रखे जाने चाहिएँ। यदि 'बाई' का अर्थ वात या वायु दिया जाय तो वह अशुद्ध और भ्रामक होगा। उसकी ठीक व्याख्या है–रोगी के शरीर में होनेवाला वायु का प्रकोप। विवेक का अर्थ 'भली-बुरी वस्तु का ज्ञान' नहीं, वल्कि 'भली बुरी बातों का ठीक ज्ञान करानेवाली आन्तरिक शक्ति' होना चाहिए। 'सचेष्ट' के ये अर्थ ठीक नहीं हैं—१ जिसमें चेष्टा हो। २ जो चेष्टा कर रहा हो। कारण यह है कि उक्त दोनों अर्थों में 'चेष्टा' शब्द दो अलग अलग क्रियाओं या भावों का सूचक है; और जब तक दोनों क्रियाएँ या भाव स्पष्ट न किये जायँ, तब तक आशय न खुलेगा। तात्पर्य यह कि जहाँ तक हो सके, अर्थ ठीक, पूरा और स्पष्ट होना चाहिए; वह जिज्ञासुओं के लिए अधूरा, गलत या भ्रामक नहीं होना चाहिए।

कुछ अवस्थाएँ अवश्य ऐसी होती हैं, जिनमें या तो यथेष्ट

अवकाश न होने (अर्थात् विस्तार-भय) के कारण अथवा यथेष्ट साधन प्राप्त न होने के कारण पूरे अर्थ या विवरण नहीं दिये जा सकते। बहुत ही कम प्रचलित या कम ज्ञात शब्द भी इसी वर्ग में आते हैं। पशु-पक्षियों, कीड़े-मकोड़ों, पेड़-पौधों आदि के हजारों नाम और भेद होते हैं। इनमें से पूरा अथवा साधारण ज्ञान करानेवाला विवरण प्रायः उन्हीं शब्दों का दिया जाता है, जो अधिक प्रसिद्ध होते अथवा प्रायः लोगों के सामने आते रहते हैं। शेष के सम्बन्ध में 'एक प्रकार की चिड़िया (पेड़, मछली)' आदि दे देना ही यथेष्ट होता है। पर यदि 'सरसों' के आगे लिखा हो—'एक तेलहन' या 'सारंग' के आगे लिखा हो 'एक वृत्त' तो पाठकों के हाथ-पल्ले क्या पड़ेगा ? यदि चित्र, विशेष, व्यतिरेक सरीखे शब्दों के अन्तर्गत केवल 'एक अलंकार' कहकर चलता किया जाय, तो काम न चलेगा। कारण यह है कि साधारण समझदार पाठक प्रायः प्रसंग से भी यह समझ लेंगे कि यह साहित्य-क्षेत्र का कोई अलंकार है। और कम समझनेवाले लोग या अल्प-वयस्क विद्यार्थी 'एक अलंकार' का मतलब यह भी समझ सकते हैं कि यह किसी तरह के गहने या जेवर का नाम है। जिज्ञासु या विद्यार्थी का काम तो तभी निकलेगा, जब उसे अलंकार का कुछ लक्षण या स्वरूप बतलाया जायगा।

प्रामाणिक कोश तैयार करते समय मुझे हिन्दी कोशों में ऐसे अनेक शब्द मिले, जो अर्थ के विचार से अधूरे थे। उदाहरणार्थ—श्री मैथिलीशरण जी गुप्त के नवीन महाकाव्य 'जय भारत' में एक जगह आया है—

छूत तो किसी को नहीं इस तनु से यहाँ ?

और एक दूसरी जगह आया है—

जिसने दो ही दिन में चुनकर कर डाला उनको आधा।

उक्त पंक्तियों में 'छूत' और 'चुनना' जिन विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त

हुए हैं, वे अर्थ अब तक किसी कोश में नहीं आये हैं। 'तूलना' शब्द सकर्मक रूप में और गाड़ियों के पहियों और धुरी के सिरों पर तेल देने या औंगने के अर्थ में तो प्रसिद्ध ही है; और प्रायः सभी कोशों में आया है। पर यह शब्द कुछ कवियों ने अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त किया है। उदाहरणार्थ, दीनदयाल गिरि ने कहा है—

रंग न तेरो है कछू, सुबरन संग न तूलि।

और श्री जयशंकरप्रसाद ने लिखा है—

मंजुल रसालन की मंजरी के पुंजन में,
पाय कै प्रसाद तहाँ गूँज गूँज तूले हौ।

पर 'तूलना' के ये अर्थ अब तक किसी कोश में नहीं आये हैं[1]। इसी प्रकार नित्य की बोल-चाल का 'सही' शब्द लीजिए। हम कहते हैं—(क) आप बैठें तो सही। (ख) आप वहाँ गये सही। (ग) अच्छा यही सही। (घ) हम दरिद्र ही सही आदि। उक्त प्रयोगों में 'सही' के कुछ विशिष्ट अर्थ और भाव हैं। हिन्दीवाले तो ऐसे प्रयोगों के आशय से परिचित होने के कारण उनके अर्थ या विवरण की अधिक खोज नहीं करते। परन्तु यदि कोई अन्य भाषा-भाषी बात-चीत में 'सही' के उक्त प्रयोग सुने या तुलसीकृत रामायण के प्रयोगों में के 'सही' शब्द का अर्थ जानना चाहे, तो वह अर्थ उसे कोश में मिलना चाहिए। पर हिन्दी शब्द-सागर के सम्पादन के समय 'सही' के उक्त प्रयोगों का अर्थ और विवरण शायद इसी लिए छूट गया था कि सम्पादकों ने सोचा होगा कि यहाँ 'सही' बिलकुल साधारण रूप में प्रयुक्त हुआ है और वह अपने विशेषण तथा स्त्रीलिंग संज्ञावाले अर्थों में तो आ ही चुका

१ 'तूलना' के सम्बन्ध की कुछ बातें पहले 'शब्द-भेद' शीर्षक प्रकरण में भी आ चुकी हैं।

है; अतः उन्हीं में कहीं इसका भी अन्तर्भाव हो जायगा। उनका ध्यान इस शब्द के उक्त प्रकार के असाधारण प्रयोगों, उनसे सूचित होनेवाले विशिष्ट भावों और उसकी स्वतन्त्र व्युत्पत्ति (देखें 'निरुक्ति या व्युत्पत्ति' शीर्षक प्रकरण) की ओर नहीं गया। और फलतः हिन्दी के सभी कोश 'सही' के ऐसे अर्थों से वंचित रह गये। उक्त शब्द के ऐसे ही विलक्षण प्रयोगों ने मुझे आकृष्ट करके प्रामाणिक हिन्दी कोश के तीसरे संस्करण के वास्ते उसका पूरा विवेचन करने के लिए प्रेरित किया[1]।

आज-कल अनेक प्राचीन काव्यों के ऐसे नये संस्करण निकलने लगे हैं, जिनमें टीका-टिप्पणियाँ भी सम्मिलित होती हैं। प्रायः सुयोग्य विद्वान् ही ऐसे संस्करणों के सम्पादक होते हैं। वे बहुत परिश्रम और छान-बीन करके सम्पादन करते और यथा-साध्य शुद्ध पाठ और ठीक अर्थ देने का प्रयत्न करते हैं। पर कभी न कभी और कहीं न कहीं भूल सबसे हो ही जाती है। यह बात दूसरी है कि आप कम भूलें करें और मैं अधिक भूलें करूँ। पर मनुष्य कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकता; और न सदा यही कह सकता है कि जो पाठ, अर्थ या निरुक्ति मैंने बतलाई है, उसके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। मुझे नये शब्द और अर्थ एकत्र करने में ऐसे सु-सम्पादित ग्रन्थों से बहुत अधिक सहायता मिलती है; और मैं उनके सुयोग्य सम्पादकों का बहुत ऋणी हूँ। उनके प्रति यथेष्ट आदर-सम्मान का भाव रखते हुए भी मैं कह सकता हूँ कि कुछ स्थानों पर उनके दिये हुए पाठ या किये हुए अर्थ मुझे ठीक नहीं जान पड़ते; और ठीक अर्थ तक पहुँचने के लिए मुझे इधर-उधर भटकना पड़ता है। और जब तक सन्तोष-जनक निराकरण नहीं हो जाता, तब तक मैं ऐसे शब्द और उनके

१. देखें परिशिष्ट।

अर्थ ग्रहण नहीं करता—इन्हें विचारणीय वर्ग में ही रखता हूँ[१]।

ऐसा एक शब्द लीजिए। महाकवि सूरदास जी ने एक जगह कहा है—

ग्रीवा-रन्ध्र नैन चातक जल, पिक मुख बाजे बाजन।

और दूसरी जगह कहा है—

स्वाति बिना ऊसर सब मरियत ग्रीव-रन्ध्र मत कीन्हों।

इनमें का ग्रीव-रन्ध्र या ग्रीवा-रन्ध्र शब्द किसी कोश में नहीं आया है। कई संस्कृत कोशों में भी यह शब्द मुझे नहीं मिला। पर एक मित्र कहते हैं कि इसका अर्थ 'झिल्ली' नामक प्रसिद्ध बरसाती जन्तु है, जो उक्त प्रसंगों में ठीक बैठता है। हो सकता है कि इसका शुद्ध रूप रन्ध्र-ग्रीव हो। इस प्रकार के शब्दों की ओर भी कोशकारों को ध्यान रखना चाहिए।

एक बार एक प्राचीन काव्य के नये संस्करण में एक जगह एक शब्द (खेद है कि वह शब्द इस समय मुझे याद नहीं आता) का अर्थ मिला—एक प्रकार का बाजा; और दूसरी जगह उसी शब्द का अर्थ मिला—एक प्रकार का हथियार। सन्देह की निवृत्ति के लिए मैंने मूल से मिलान किया तो पता चला कि उसका प्रयोग हथियारों के प्रसंग में ही हुआ है; और दूसरी जगह वह भूल से ही 'बाजा' बतलाया गया है।

मीराँ के पदों में से शब्द-संग्रह करते समय मुझे एक पद में ये दो चरण मिले—'मोती मानिक परत न पहिरूँ, मैं कब की नटकी।' और 'गैणो तो म्हारो माला दोवड़ी और चन्दन की कुटकी।' एक सुयोग्य विद्वान् ने कदाचित् अनवधानता के कारण इनमें से पहले चरण के 'नटकी' शब्द का अर्थ किया है—अस्वीकार कर दिया है। और 'दोवड़ी' का अर्थ लिखा है—एक प्रकार का गहना।

---

१ मेरे पास ऐसे विचारणीय शब्दों की एक बहुत बड़ी सूची बन गई है जो फिर किसी अवसर पर प्रकाशित की जायगी।

पर मुझे ये दोनों अर्थ ठीक नहीं जँचे। 'नटना' क्रिया तो ठीक है, पर 'नटकना' का प्रयोग 'नटना' के अर्थ में नहीं होता। राजपूताने में नट जाति के लोगों, विशेषतः बालकों और युवकों को 'नटका' भी कहते हैं, जिसका अर्थ होता है—नट जाति का या नट की सन्तान। 'नटकी' इसी का स्त्री० रूप है। मीराँ कहती हैं कि मैं कोई नट जाति की स्त्री नहीं हूँ जो रत्नों से अपने आपको सजाऊँ। 'दोवड़ी' के सम्बन्ध में मैंने सोचा कि जिस मीराँ ने राज-सुख पर लात मारी थी, वह भला कोई गहना क्यों पहनेगी ? तिस पर वह स्वयं कह रही है कि माला, दोवड़ी और चन्दन की कुटकी ही मेरे गहने हैं। अतः 'दोवड़ी' और कोई चीज होनी चाहिए। मैंने अपने विचारणीय शब्दों की सूची में 'दोवड़ी' शब्द के साथ उक्त चरण लिख लिया। कोई छः महीने बाद जब 'कबीर साहित्य का अध्ययन' प्रकाशित हुआ और मैं उसमें से शब्द-संग्रह करने लगा, तब उसमें एक जगह मिला—पाँच गज दोवटी माँगी, चून लीयौ सानि। तब तुरन्त मेरा ध्यान मीराँ की 'दोवड़ी' की ओर गया और दोनों पदों को मिलाकर देखने पर मालूम हुआ कि 'दोवटी' और 'दोवड़ी' एक ही हैं। ये शब्द सं० द्विपट्ट से निकले हैं, जिसका अर्थ है—साधारण मोटा कपड़ा। और तब यह शब्द प्रामाणिक कोश के अगले संस्करण के लिए उक्त उदाहरणों सहित संकलित हुआ[1]।

कबीरदास के एक पद में आया है—पाहू घर आये मुकलाऊ आये। सन्त-समाज में यह चरण विशेष प्रसिद्ध है; और गुरु ग्रंथ साहब में भी यह इसी रूप में आया है। एक आदरणीय विद्वान् ने अपने ग्रन्थ में 'मुकलाऊ' का अर्थ किया है—मुक्त कराना, विदा कराना; और इसी लिए उक्त पद का अर्थ दिया है—विदा कराने के लिए पाहुने आये हुए हैं। कबीर ने एक

१. देखें परिशिष्ट।

उलटवाँसी में भी इस 'मुकलाना' शब्द का प्रयोग किया है—सुति मुकलाई अपनी माउ। उक्त ग्रन्थ में इसका अर्थ किया गया है—पुत्र (अज्ञान) अपनी माता (माया) को बन्धन-मुक्त करा लाया है। परन्तु एक पंजाबी होने के नाते मैं जानता हूँ कि 'मुकलावा' पंजाबी में द्विरागमन को कहते हैं। दामाद जब विवाह के बाद अपनी बहू को विदा कराके अपने घर लाने के लिए ससुराल जाता है, तब कहा जाता है कि वह 'मुकलावा' लेने के लिए गया है; और जब बहू घर आ जाती है, तब कहा जाता है—मुकलावा आ गया। इस दृष्टि से पहले उद्धरण का अर्थ होगा—बहू को विदा कराने के लिए दामाद[1] घर आया हुआ है; और दूसरे उद्धरण का अर्थ होगा—पुत्र (अज्ञान) ने अपनी माता (माया के साथ विवाह करके) का गौना या द्विरागमन कराया है। कोशकारों को अर्थ-सम्बन्धी ऐसे गड्ढों से बचने के लिए बहुत सचेत रहना चाहिए।

एक और क्षेत्र है, जिसमें अर्थों के सम्बन्ध में प्रायः गड़बड़ी होती है। बहुत-सी पुरानी चीजें या बातें ऐसी होती हैं, जिनका प्रचलन उठ जाने के कारण, लोगों का उनसे बहुत कम परिचय रह जाता है अथवा उनके सम्बन्ध में जनता में कुछ भ्रम रहता है। कभी कोई विद्वान् विशेष छान-बीन करके ऐसी अनेक छोटी-मोटी बातों के सम्बन्ध में वास्तविक तथ्य का पता लगाता है ; और तब अपने नये अनुसन्धान का फल किसी पत्र-पत्रिका में प्रकाशित कराता है। कोशकार की दृष्टि इस क्षेत्र पर भी रहनी चाहिए। नेत्र-कष्ट के कारण मैं पढ़ता बहुत कम हूँ, फिर भी फुटकर पत्र-पत्रिकाओं में मुझे कभी कभी कुछ

---

१. उक्त उद्धरण में 'पाहू' उसी प्रकार 'दामाद' के लिए आया है, जिस प्रकार आज भी 'पाहुना' पश्चिम में और 'मेहमान' पूरब में 'दामाद' का वाचक माना जाता है।

नये शब्द या अर्थ मिल ही जाते हैं। कुछ दिन पहले डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल दतिया का किला देखने गये थे। वहाँ उन्हें पुराने अस्त्र-शस्त्रों के सम्बन्ध में बहुत-सी नई बातें मालूम हुई थीं, और मध्य-कालीन युद्ध के अनेक भारतीय उपकरण देखने को मिले थे। उन्होंने इस सम्बन्ध का एक विस्तृत लेख अगस्त १९५१ की 'कल्पना' में प्रकाशित कराया था। उस लेख में मुझे पचासों नये शब्द और नये विवरण मिले। उनका संग्रह करते समय एक नई और जानने योग्य बात यह मिली कि 'झिलम' और 'टोप' दोनों एक चीज नहीं हैं, बल्कि दो अलग अलग चीजें हैं। दोनों में ऐसा अन्तर है, जिसे अब लोग प्रायः भूल गये हैं। टोप तो लोहे का वह उपकरण है ही, जो युद्ध के समय सिर पर पहना जाता था। पर झिलम उसमें लगी हुई सिकड़ियों की उस झालर को कहते थे, जो पीछे गरदन की ओर लटकती थी। इसी अन्तर ने मेरा ध्यान इस बात की ओर भी आकृष्ट किया था कि इस शब्द का झिलमिली के साथ नैरुक्तिक सम्बन्ध होना चाहिए। इसी प्रकार का कुछ विशिष्ट अन्तर जिरह और बकतर में भी है; पर वह अन्तर भी आज-कल लोग भूल गये हैं और दोनों एक चीज समझे जाते हैं। प्रामाणिक कोश के तीसरे संस्करण के लिए उक्त चारों शब्दों की व्याख्या इसी आधार पर ठीक की गई है; और दोनों शब्द-युग्मों के अन्तर स्पष्ट किये गये हैं[1]। चारों ओर दृष्टि रखने से कोशकार को ऐसी बहुत-सी नई बातें मिलती रहती हैं, जो उसके कोश में औरों की अपेक्षा बहुत कुछ नवीनता और विशेषता ला सकती हैं।

अब एक और शब्द-वर्ग लीजिए, जो है तो परिमित, फिर भी प्राचीन हिन्दी-साहित्य में वह पाया ही जाता है। वह है श्लेषों, उलटवाँसियों, कूटों आदि का वर्ग। श्लिष्ट शब्दों या पदों के अर्थ

१ देखें परिशिष्ट।

तो फिर भी थोड़े-बहुत प्रयत्न से, या शब्द-कोशों की सहायता से, समझ में आ जाते हैं। जैसे—कहीं 'मित्र' शब्द आया हो तो पाठक प्रसंग से समझ सकते हैं कि अमुक अर्थ में यह सूर्य के लिए आया है, और अमुक अर्थ में दोस्त के लिए; और कहीं 'हंस' मिले तो वे समझ सकते हैं कि यहाँ यह पक्षी के लिए आया है और यहाँ सूर्य के लिए। 'द्विज-पाँति' से वे समझ सकते हैं कि यहाँ ब्राह्मणों की पंक्तिवाला आशय अभीष्ट है, या दाँतों की पंक्तिवाला या दोनों। और इस क्षेत्र में शब्द-कोशों से जिज्ञासुओं को सहायता मिल सकती है, पर इससे आगे नहीं।

अब उलटवाँसियाँ और कूट लीजिए। हिन्दी में कबीर की उलटवाँसियाँ और सूर के कूट बहुत प्रसिद्ध हैं। पर उनका आशय समझना-समझाना सबका काम नहीं है; क्योंकि उनका सम्बन्ध कुछ विशिष्ट घटनाओं, तत्त्वों, परिस्थितियों आदि से होता है, जिनका विवेचन कोशकार के अधिक्षेत्र के बाहर है। 'पहले पूत पीछे भई माइ' सरीखी उलटवाँसियों या 'गिरिजा-पति-पतिनी-पति-जा-सुत' सरीखे कूटों का वास्तविक अभिप्राय कोशकार किसी प्रकार समझा ही नहीं सकता। उसका काम अलग अलग शब्दों के अर्थ बतलाना और व्याख्या करना ही है, पौराणिक कथाओं, दार्शनिक तत्त्वों आदि का पारस्परिक सम्बन्ध या तारतम्य स्पष्ट करके उनका गूढ़ अभिप्राय या आशय बतलाना नहीं। ऐसे प्रसंगों में आनेवाले पदों और वाक्यों का ठीक और पूरा विवेचन ग्रन्थ विशेष के सम्पादकों का ही काम है। इस प्रकार के प्रयोगों की गणना तो पहेलियों के वर्ग में होनी चाहिए; और पहेलियाँ बूझने में शब्द-कोशों से कोई सहायता नहीं मिल सकती।

इसी से मिलती-जुलती एक और ऐसी अवस्था होती है, जिसमें कोशकार के हाथ-पैर बँध जाते हैं—वह कुछ नहीं कर

सकता। प्रायः लोग साधारण अवस्थाओं में भी कहीं 'कमल' के लिए विधि-तात, कहीं कल्प-वृक्ष के लिए काम-भूरुह, और कहीं 'चन्द्रमा' के लिए 'गिरिजापति-भूषण' सरीखे पदों का प्रयोग कर जाते हैं। इसी वर्ग का 'लक्ष्मी सहज' शब्द लीजिए। इसका शब्दार्थ है—वह जो लक्ष्मी के साथ उत्पन्न हुआ हो। पर समुद्र-मथन के समय लक्ष्मी के साथ और तेरह चीजें भी निकली थीं; जैसे—अमृत, विष, चन्द्रमा आदि। यहाँ तक कि उच्चैःश्रवा नाम का घोड़ा भी उसमें से निकला था। अब कोशकार 'लक्ष्मी-सहज' का अर्थ दे तो क्या दे? वह तो अधिक से अधिक यही कर सकता है कि 'समुद्र-मथन' के अन्तर्गत कुछ ब्योरा दे दे। ऐसे पदों का आशय जानने के लिए जिज्ञासुओं को दूसरे साधनों से सहायता लेनी पड़ेगी।

अब और एक प्रकार के शब्द लीजिए, जो कुछ विशिष्ट क्षेत्रों या प्रसंगों में ही अपना कुछ विशिष्ट अर्थ रखते हैं। रहस्य-सम्प्रदाय में ऐसे बहुत-से शब्द प्रचलित हैं, जो कुछ निजी और निराले अर्थ रखते हैं। जैसे—उक्त सम्प्रदाय के ग्रन्थों में अम्बर से अन्तःकरण का, गुफा या मानस सरोवर से हृदय का, गौ या सिंह से ज्ञान का, पाण्डव से पाँचों इन्द्रियों का, और हंस से जीव, प्राण, आत्मा आदि का अर्थ लिया जाता है। उक्त सम्प्रदाय का साहित्य हिन्दी में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है; और अब उसके अध्ययन की ओर लोगों की रुचि भी फिर से बढ़ने लगी है। पर अभी तक इस प्रकार के विशिष्ट अर्थों की ओर हिन्दी कोशकारों का ध्यान नहीं गया था। मेरी समझ में इस प्रकार के कुछ बहुत प्रसिद्ध और प्रचलित शब्द तथा अर्थ कोशों में सहज में लिये जा सकते हैं; और यही समझकर प्रामाणिक कोश के तीसरे संस्करण के लिए इनका संकलन किया जा रहा है।

कहीं कहीं कवि लोग कुछ शब्दों के प्रयोग केवल सांकेतिक रूप में कर जाते हैं; और ऐसे शब्दों के द्वारा वे कोई ऐसा भाव प्रकट करना चाहते हैं, जो न तो सहसा किसी की समझ में आ सकता है और न जिसका किसी दूसरे प्रसंग में वह अर्थ या आशय लग सकता है। उदाहरण के लिए तुलसी सतसई में गोस्वामीजी ने कहा है—भगन-भगति करु मरम तजि, तगन सगन विधि होय। कहा जाता है कि इसमें का 'भगन' यहाँ माधव के लिए, 'तगन' सन्तोष के लिए और 'सगन' शुचिता के लिए आया है। ये सब शब्द (भगण, तगण, सगण) छन्दः शास्त्र में के गणों के नाम हैं; और हो सकता है कि कुछ विद्वान् दिमाग लड़ाकर इन गणों को कुछ और तत्त्वों या बातों का भी सूचक सिद्ध करे सकें। पर गोस्वामीजी ने जिस अभिप्राय से इन शब्दों का प्रयोग किया है, वह अभिप्राय तुलसी-सतसई की अच्छी टीका से ही जाना जा सकता है, किसी शब्द-कोश की सहायता से नहीं; क्योंकि गणों के ये नाम बहुत-से शब्दों के सूचक हो सकते हैं। हाँ, लोग अपनी समझ से प्रसंग के अनुसार इनका आशय लगा सकते हैं।

इसी वर्ग में कुछ ऐसे साधारण शब्द भी आते हैं, जिनका हमारे यहाँ के भक्त कवियों ने विशेष रूप से प्रयोग किया है; और जिनका सम्बन्ध किसी विशिष्ट पौराणिक कथानक या घटना से होता है। जैसे—व्याध, गीध, गनिका जिहिं कागर, हौं तिहिं चिठि न चढ़ायौ। इसमें के व्याध, गीध और गनिका शब्द साधारणतः जाति-वाचक संज्ञा हैं। कोशों में इनके साधारण अर्थ तो मिल जायँगे, पर जो व्याध, गीध और गणिका उक्त पद में अभिप्रेत हैं, उनका विवरण भी तो जिज्ञासुओं को मिलना चाहिए। अब तक किसी कोश में ऐसे शब्दों का इस दृष्टि से विवेचन नहीं हुआ है। पर यदि वास्तविक रूप से विचार किया

जाय तो कोशों में ऐसे बहुत प्रचलित और प्रसिद्ध शब्दों के अन्तर्गत इनसे सम्बन्ध रखनेवाले पौराणिक कथानकों, घटनाओं या व्यक्तियों का भी कुछ उल्लेख होना चाहिए।

कभी कभी कवि लोग यौगिक शब्दों या पदों में के अलग अलग अंगों या शब्दों के पर्यायों के योग से भी नये शब्द बना लेते हैं। जैसे—धनुष-यज्ञ के लिए चाप-मख, इन्द्र-धनुष के लिए शक्र-चाप, वाग्वीर या शब्द-सूर के लिए गिरा-भट या सुग्रीव के लिए सुकंठ आदि। इस प्रकार के बहुत-से नये शब्द भी बनाये जा सकते हैं; और इन सब की कल्पना करके शब्द-कोशों में उन सब को स्थान देना न तो संगत ही है, न सम्भव ही। फिर भी इनमें जो अधिक प्रसिद्ध शब्द हों या जिनका प्राचीन काव्यों में विशेष प्रयोग हुआ हो, उन्हें शब्द-कोश में ले लेना ही उचित होगा।

अर्थ की दृष्टि से कोशकार को एक और महत्त्वपूर्ण बात का ध्यान रखना पड़ता है। जीवित और प्रचलित भाषाएँ सदा बढ़ती रहती हैं। उनमें नये नये शब्द और नये नये अर्थ बढ़ते रहते हैं; और जब तक कोश में ऐसे नये शब्द और नये अर्थ न लिये जायँ, तब तक वह अद्यावधिक नहीं हो सकता। आज-कल सारे देश में 'मत' शब्द अँगरेजी के 'वोट' के लिए प्रचलित है। परन्तु जब इन पंक्तियों का लेखक प्रामाणिक हिन्दी कोश तैयार करने बैठा, तब उसने देखा कि हिन्दी के किसी कोश में 'मत' का यह नया अर्थ नहीं आया है। कारण कदाचित् यही है कि जिस समय हिन्दी शब्द-सागर बना था, उस समय इस नये अर्थ में 'मत' शब्द बहुत अधिक प्रचलित नहीं हुआ था। यदि शब्द-सागर में इस शब्द का उक्त अर्थ आया होता, तो अन्य कोशों में भी अवश्य आ जाता। 'मत' का यह नया अर्थ पहले-पहल प्रामाणिक हिन्दी कोश में बढ़ाया गया था। आज-

कल 'आकाश-वाणी' शब्द 'रेडियो' के लिए बहुत प्रयुक्त होता है। 'समारंभ' का साधारण अर्थ है—अच्छा आरम्भ। पर अब वह हिन्दी में उत्सव या समारोह के अर्थ में चल पड़ा है। पहले 'दैनिकी' का अर्थ था—दैनिक वेतन या भाड़ा; पर अब वह अं० डायरी के अर्थ में चल रहा है। 'निर्भर' का मूल अर्थ है—अच्छी तरह भरा हुआ या पूरा ; पर आज-कल वह अवलम्बित या आश्रित के अर्थ में चलता है। अँगरेजी की देखा-देखी 'दुर्बलता' में एक नया अर्थ लग गया है। हम कहते हैं—उनमें एक दुर्बलता यह है कि वे सुनी-सुनाई बातों पर जल्दी विश्वास कर लेते हैं। 'स्थूल आकलन (या विचार)' और 'सूक्ष्म बुद्धि (या अन्तर)' सरीखे प्रयोगों में 'स्थूल' और 'सूक्ष्म' के जो अर्थ हैं, वे अब तक किसी कोश में ठीक तरह से नहीं आये हैं। ढूँढने पर इस प्रकार के सैकड़ों-हजारों नये अर्थ मिल सकते हैं। जब तक ऐसे नये अर्थ कोश में न आवें, तब तक वह उपयोगी और सर्वांगपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

यहाँ प्रसंगवश एक और बात बतला देना आवश्यक जान पड़ता है। हिन्दी में 'समाचार' शब्द आज-कल खबर के अर्थ में बहुत प्रयुक्त हो रहा है, बल्कि यों कहना चाहिए कि अब इस शब्द का 'खबर' के सिवा और कोई अर्थ रह ही नहीं गया। कम से कम गोस्वामी तुलसीदास जी के समय से तो यह इसी अर्थ में प्रचलित है। यथा—समाचार पुर-बासिन पाये। संस्कृत में इसके 'अच्छा आचार' आदि कुछ अर्थ थे, पर वे अब प्रायः छूट-से गये हैं। पहले इसमें पुराने अर्थों के साथ यह नया अर्थ लगा—किसी के आचरण का ज्ञान, परिचय या सूचना। और तब यही अर्थ विकसित होकर साधारण 'खबर' के रूप में परिणत हो गया। यह ठीक है कि संस्कृत के बहुत पुराने कोशों में इस शब्द का यह अर्थ नहीं

मिलता। परन्तु केवल इस आधार पर एक प्रतिष्ठित विद्वान् इसे संस्कृत का शब्द मानने के लिए तैयार नहीं हैं। वे इसके लिए क्लिष्ट-कल्पना करते हुए कहते हैं कि 'खबर' के अर्थ में 'समाचार' शब्द सम्भवतः सं० संचार से निकला होगा। पर यह द्राविड़ प्राणायाम के सिवा कुछ नहीं है। फिर यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है कि संस्कृत शब्द का जो अर्थ पुराने संस्कृत कोशों में न मिले, उस अर्थ में वह संस्कृत का शब्द न माना जाय। इस सिद्धान्त के अनुसार तो अपने नये अर्थों में प्रचलित सैंकड़ों-हजारों शब्द संस्कृत के क्षेत्र से अलग हो जायँगे।

आज-कल भारत भर में 'चल-चित्र शब्द' फिल्म के अर्थ में बहुत अधिक प्रचलित है। 'चल' और 'चित्र' दोनों संस्कृत के शब्द हैं; पर दोनों का यह यौगिक रूप संस्कृत में प्रचलित नहीं था; यह रूप तो अब गढ़ा गया है। संस्कृत कोशों में 'चल-चित्र' शब्द ही नहीं मिलेगा, अर्थ का तो कहना ही क्या है। यही बात 'प्रवर समिति', 'राज्य-परिषद', 'लोक-सभा', 'स्थानिक स्वराज्य', 'स्थायी समिति', सरीखे सैकड़ों-हजारों शब्दों के सम्बन्ध में भी है, जो इधर हाल में नये बने हैं और बिलकुल नये अर्थों में प्रचलित हुए हैं। फिर भी निरुक्ति की दृष्टि से ये शब्द संस्कृत के ही माने जायँगे, किसी अन्य भाषा के नहीं। संस्कृत व्याकरण के अनुसार उपसर्ग केवल बीस माने गये हैं। पर उपसर्ग हिन्दी में भी होते हैं और अरबी-फारसी, अँगरेजी आदि अन्य भाषाओं में भी। यदि हम 'उपसर्ग' शब्द का प्रयोग किसी ऐसे अव्यय के सम्बन्ध में करें जो हिन्दी में उपसर्ग की तरह लगता हो, तो उसके विषय में यह आपत्ति ठीक नहीं कि यह संस्कृत के उपसर्गों की सूची में नहीं आया है। ऐसे अवसरों पर हमें अर्थों के सम्बन्ध में अपनी दृष्टि व्यापक और धारणा उदार रखनी चाहिए। हमें इस सर्व-मान्य सिद्धान्त के आगे सिर झुकाना

चाहिए कि शब्दों के अर्थों का बराबर विकास होता रहता है —उनमें नये अर्थ लगते रहते हैं। संस्कृत के पुराने शब्द कुछ विशिष्ट अर्थों के क्षेत्र में बाँधकर नहीं रखे जा सकते, क्योंकि संस्कृत को हम अपनी आकर भाषा मानते हैं, और नये शब्दों तथा अर्थों के लिए उसी के मुखापेक्षी होते हैं।

यहाँ तक तो हुआ शब्दों के अर्थों का विवेचन; अब एक दूसरा अंग या पक्ष लीजिए। शब्द-कोशों में अर्थ दो रूपों में दिये जाते हैं—पर्याय रूप में और व्याख्या रूप में। अधिकतर अवसरों पर प्रसिद्ध और विशेष प्रचलित पर्याय दे देने से ही काम चल जाता है; जैसे—अनंग, कंदर्प, पंचशर, मदन, मन्मथ, स्मर आदि के आगे 'कामदेव' लिख दिया जाय और कामदेव में विस्तृत विवरण या व्याख्या दे दी जाय, तो काम चल जायगा। पर कुछ अवसरों पर शब्दों की कुछ व्याख्या करने की भी आवश्यकता होती है। साधारण नियम यही है कि शब्द की व्याख्या पहले की जाती है और तब उसके पर्याय दिये जाते हैं। शब्दों की व्याख्या का काम कभी कभी इसलिए बहुत ही कठिन हो जाता है कि हम शब्द का आशय या भाव तो ठीक तरह से समझ लेते हैं, पर शब्दों में वह आशय या भाव प्रकट करने का प्रकार निश्चित नहीं कर पाते—अपनी अनुभूति को अभिव्यंजन का रूप देने में पूरी तरह से समर्थ नहीं होते। यहीं आकर कोशकार की विशिष्ट योग्यता की परीक्षा होती है। शब्द की व्याख्या करते समय उसे मुख्यतः इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि जहाँ तक हो सके, वह बिलकुल ठीक हो। न तो उसमें अति-व्याप्ति, अव्याप्ति आदि दोष हों, न वह जटिल या दुरूह हो और न उसमें कोई फालतू बात आने पावे। यह ठीक है कि बहुत-से पारिभाषिक या वैज्ञानिक शब्द ऐसे होते हैं, जिनकी पूरी और ठीक व्याख्या साधारण शब्द-कोशों में, विस्तार-भय से, नहीं की जा सकती;

और इसी लिए वह थोड़े में ऐसे ढंग से की जाती है कि जिज्ञासु पाठक सहज में उसके स्थूल रूप से परिचित हो जायँ। कुछ शब्दों की किसी विशिष्ट क्षेत्र में कुछ असाधारध प्रकार की व्याख्या या पारिभाषिक विवेचन होता है; पर शब्द-कोशों में उनकी ऐसी व्याख्या या विवेचन की आवश्यकता होती है, जिसे सब लोग सहज में समझ सकें। कुछ ऐसे शब्द भी (यथा—अधिकार, धातु, मात्रा, मूल, योग, रस, विधि, सम आदि) होते हैं, जो भिन्न भिन्न क्षेत्रों या शास्त्रों में कुछ विशेष प्रकार के अर्थ रखते हैं। ऐसे अवसरों पर इस बात का संकेत कर देना भी कोशकार का कर्त्तव्य होता है कि इस शब्द का यह अर्थ अमुक क्षेत्र या शास्त्र से सम्बन्ध रखता है।

इनके सिवा कुछ ऐसे शब्द भी होते हैं, जिनके अर्थ के सम्बन्ध में तो विशेष विवाद नहीं होता, पर जिनकी व्याख्याएँ अलग अलग शास्त्रों में अलग अलग प्रकार से होती हैं। तत्त्व, द्रव्य, धर्म, मन सरीखे बहुत-से ऐसे शब्द हैं, जिनका आध्यात्मिक क्षेत्र में एक प्रकार से अर्थ या व्याख्या की जाती है, दार्शनिक क्षेत्र में दूसरे प्रकार से, भौतिक विज्ञान में तीसरे प्रकार से और मनोविज्ञान में चौथे प्रकार से। इससे भी बढ़कर एक और विलक्षण बात यह होती है कि एक ही शब्द का एक ही विज्ञान या शास्त्र में अलग अलग आचार्य या विद्वान् अलग अलग प्रकार से अर्थ या व्याख्या करते हैं। अर्थ-शास्त्र में 'मुद्रा' की, राज-तन्त्र शास्त्र में 'राज्य' की और साहित्य-शास्त्र में 'काव्य' या 'रस' की आपको अनेक प्रकार की परिभाषाएँ और व्याख्याएँ मिलेंगी। फिर इन परिभाषाओं और व्याख्याओं का रूप भी इतना अधिक पारिभाषिक होगा, जो साधारण पाठकों के लिए कदाचित् ही विशेष उपयोगी हो सके। ऐसे अवसर पर चतुर और दक्ष कोशकार ही सब मतों का समन्वय करके और उनका तथ्य

पूर्ण अंश ग्रहण करके ऐसी व्यापक, समीचीन और सुडौल परिभाषा या व्याख्या प्रस्तुत करता है, जो सब प्रकार की पारिभाषिक जटिलताओं से मुक्त और दुरूहताओं से रहित तो हो ही, साधारण पाठकों के लिए बोध-गम्य होने के अतिरिक्त आकर्षक या मनोहर भी हो।

शब्दों की व्याख्या करते समय ध्यान में रखने की दूसरी महत्त्व-पूर्ण बात यह है कि वह यथा-साध्य बोध-गम्य या स्पष्ट होनी चाहिए—पहेली के रूप में या ऐसी नहीं होनी चाहिए, जिसे समझने के लिए जिज्ञासु को सिर-पच्ची करनी पड़े, या सिर-पच्ची करने पर भी निराश या विफल ही रहना पड़े। व्याख्या के सम्बन्ध में सिद्धान्त यह होना चाहिए कि वह जिज्ञासुओं को निराश या खिन्न न करने पावे। बहुत ही साधारण या थोड़ा ज्ञान रखनेवाले जिज्ञासु का तो उससे पूरा सन्तोष हो ही जाय; पर यदि वह व्याख्या किसी विद्वान् या विशेषज्ञ के सामने पड़े, तो वह भी मान ले कि कोशकार ने यह विषय अच्छी तरह समझकर तो लिखा ही है, अच्छी तरह समझाकर भी लिखा है।

शब्द की व्याख्या के सम्बन्ध में एक सर्व-मान्य नियम यह है कि जिस शब्द की व्याख्या की जाय, स्वयं वह शब्द उस व्याख्या में नहीं आना चाहिए। कोशकार के लिए भी इस नियम का पालन आवश्यक तो है ही, पर इसके कारण कभी कभी उसका काम बहुत ही कठिन हो जाता है। मुझे याद है कि हिन्दी शब्द-सागर के सम्पादन के समय इसी दृष्टि से 'करना' क्रिया की व्याख्या और विवेचन करने के लिए स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल को और मुझे पूरे तीन दिन लगाने पड़े थे। इस सम्बन्ध में अन्यान्य अनेक मान्य कोश देखकर यह नीति स्थिर करनी पड़ी थी कि शब्द की जो पहली और मूल व्याख्या हो, उसमें तो वह शब्द कदापि आना नहीं चाहिए; बाद के अर्थों में भी जहाँ तक

हो सके, वह शब्द बचाना चाहिए। पर कुछ अवस्थाओं में बाद के अर्थों में वह शब्द प्रयुक्त करना इसलिए उतना दोषपूर्ण नहीं माना जाता कि पहले अर्थ में उसकी व्याख्या हो चुकी होती है। अँगरेजी के अनेक अच्छे कोशों में यही परिपाटी दिखाई देती है, और हिन्दी में भी यह आपत्तिजनक नहीं मानी जानी चाहिए।

अब हम अर्थों और विवरणों का एक दूसरी दृष्टि से विचार करना चाहते हैं। अधिकतर शब्द ऐसे होते हैं, जिनके अनेक अर्थ होते हैं। पर वे सब अर्थ एक साथ ही उस शब्द में आकर लगे हुए नहीं होते। उनके अर्थ-विकास भा भी एक क्रम—एक इतिहास होता है; और अच्छे कोशकार के लिए उस क्रम या इतिहास का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। यदि वे सब अर्थ एक साथ गड्ड-मड्ड करके बिना किसी क्रम या व्यवस्था के रख दिये जायँ तो एक भद्दे ढेर की तरह दिखाई देंगे। अच्छे कोशकार विवरणों और अर्थों का भी एक निश्चित क्रम लगाते हैं, और उन्हें नियमित तथा व्यवस्थित रूप में सजाकर जिज्ञासुओं के सामने रखते हैं। साधारणतः शब्दों के अर्थ तीन प्रकार के होते हैं—शब्दार्थ, चलित अर्थ और लाक्षणिक अर्थ। किसी शब्द का जो आरम्भिक और मूल अर्थ होता है, वही शब्दार्थ कहलाता है। उस मूल अर्थ के बाद उसमें कुछ और अर्थ लगते हैं, जिन्हें चलित अर्थ कहते हैं। कभी कभी कुछ शब्दों में परिहासिक, मंगल-भाषित, व्यंग्यात्मक आदि लाक्षणिक अर्थ भी लग जाते हैं; जैसे—महापुरुष, हजरत, (दुष्ट के अर्थ में), चूड़ियाँ या दूकान बढ़ाना, कालिख पोतना की जगह चन्दन पोतना आदि। और कभी कभी कुछ शब्दों का पारिभाषिक रूपों में भी प्रयोग होने लगता है। उदाहरण के लिए 'भस्म' शब्द लीजिए। इसका मूल या वास्तविक अर्थ है—किसी चीज के जल जाने पर उसकी बची हुई राख। परन्तु लोक में उसका चलित अर्थ है—शिव

की धूनी की वह राख जो शैव लोग तिलक के रूप में मस्तक, भुजाओं, वक्ष-स्थल आदि पर लगाते हैं। फिर इसमें वैद्यकवाला वह पारिभाषिक अर्थ लगा है, जो धातु को फूँककर तैयार किये हुए 'रस' शब्द का सूचक होता है। यहाँ प्रसंगवश यह भी बतला देना आवश्यक जान पड़ता है कि स्वयं 'रस' शब्द के भी बहुत-से अर्थ हैं, जो क्रमशः उसमें लगे हैं। प्रामाणिक हिन्दी कोश के पहले संस्करण में अधिकार, करण, परिभाषा, विधि, साधारण,साहित्य,सूचना आदि और दूसरे संस्करण में कवच,छाया, प्रकार, मात्रा, रस, रूपक, विकल्प, सरीखे हजारों शब्दों का इसी दृष्टि से और बिलकुल नये ढंग से क्रमिक विवेचन किया गया है। सारांश यह कि शब्द-कोशों में शब्द के सब अर्थ दे देना ही पर्याप्त नहीं है, उन अर्थों का क्रम भी ठीक होना चाहिए।

शब्दों के अर्थों का क्रम लगा लेने पर यदि उन्हें एक बार ध्यान से देख लिया जाय तो पता चलेगा कि वे अर्थ कुछ विशिष्ट वर्गों या विभागों में बँट सकने के योग्य होते हैं; और अच्छे कोशकार को ऐसे अर्थों के वर्ग या विभाग भी निश्चित करने पड़ते हैं। प्रत्येक वर्ग या विभाग में कुछ अलग-अलग प्रकार के अर्थ आते हैं; और इस प्रकार के सब अर्थ एक साथ आने चाहिएँ। उदाहरणार्थ 'रस' शब्द लीजिए। इसके कुछ अर्थ तरल पदार्थों के वाचक होते हैं, कुछ घन पदार्थों के और कुछ अमूर्त्त भावनाओं या अनुभूतियों से सम्बद्ध होते हैं; और सम्भवतः इसी क्रम से इसके अर्थों का विकास भी हुआ है। अतः इसके अर्थ भी इसी क्रम से होने चाहिएँ। फिर 'रस' शब्द जीभ से सम्बन्ध रखनेवाले छः रसों के कारण ६ की संख्या का भी और साहित्य-क्षेत्र के नौ रसों के कारण ९ की संख्या का भी वाचक हो गया है। अतः जहाँ खाने-पीने की चीजों के छः रसों का उल्लेख हो, वहीं उसके बाद यह भी उल्लेख होना चाहिए कि काव्य में यह

छः की संख्या का सूचक है; और जहाँ साहित्य के नौ रसों का उल्लेख हो, वहीं उसके बाद उसके ९ की संख्या के वाचक होने का उल्लेख भी होना चाहिए।

शब्दों के अर्थ देते समय उनका ठीक ठीक पार्थक्य दिखलाने और विभाग करने के लिए उनके साथ संख्या-सूचक अंक देना बहुत आवश्यक होता है। हिन्दी में यह उपयोगी प्रथा हिन्दी शब्द-सागर से चली थी, और कुछ दूसरे कोशों ने भी उसका अनुकरण किया है। इससे जिज्ञासुओं को अर्थ समझने में बहुत सुभीता होता है और किसी प्रकार का भ्रम नहीं होने पाता। स्वयं कोशकार के लिए भी अर्थ-सूचक संख्याएँ देना विशेष रूप से उपयोगी होता है। मान लीजिए कि हम किसी शब्द के आगे किसी दूसरे शब्द का अभिदेश करना चाहते हैं। पर जिस शब्द का हम अभिदेश करना चाहते हैं, उसके कई अर्थ हैं जो सबके सब उद्दिष्ट नहीं हैं, बल्कि उनमें से कोई विशेष अर्थ ही उद्दिष्ट है। उस समय उस शब्द की अर्थ-संख्या हमारे अभिदेश के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगी। पर प्रायः कोशकार केवल स्थान की बचत करने के लिए अर्थ-संख्या रखते ही नहीं। शायद वे समझते हैं कि इस प्रकार बचाये हुए स्थान का उपयोग शब्दों की संख्या बढ़ाने में किया जा सकता है। पर इधर-उधर के बहुत-से शब्द इकट्ठे करके उनके बहुत-से अर्थ एक-साथ खिचड़ी के रूप में तैयार करके लोगों के सामने रखने की अपेक्षा थोड़े-से ऐसे शब्द देना कहीं अच्छा है, जिनके अर्थ ठीक और पूरे हों और उचित क्रम या व्यवस्थित रूप में रखे गये हों। अँगरेजी के अच्छे कोशों में इस प्रकार का बहुत सूक्ष्म विचार करके उनके अर्थ-विभाग किये जाते हैं। उनमें प्रत्येक विभाग के साथ संख्या-सूचक अंक तो रहते ही हैं; उन विभागों के अन्तर्गत क, ख, ग, घ, आदि देकर उनके उप-विभागवाले अर्थ दिये जाते हैं।

अर्थों के ठीक विभाग, उप-विभाग और क्रम लगा लेने के बाद एक और बात का ध्यान रखना चाहिए। कभी कभी कुछ शब्दों के विशिष्ट अर्थों के साथ कुछ विशिष्ट मुहावरे, पद, कहावतें, क्रिया-प्रयोग आदि सम्बद्ध होते हैं। ये सब बातें भी अपने ठीक स्थान पर, अर्थात् उन्हीं अर्थों के तुरन्त बाद होनी चाहिएँ, जिन अर्थों से वे सम्बद्ध हों; और इनका भी एक ऐसा निश्चित क्रम होना चाहिए, जिसका पालन आदि से अन्त तक सारे कोश में एक-सा हो। यदि पहले क्रिया-प्रयोग, तब पद और अन्त में मुहावरे या कहावतें हों तो और भी अच्छा है। मुहावरों और कहावतों में भी ठीक ठीक अन्तर किया जाना चाहिए—दोनों को एक साथ मिला नहीं दिया जाना चाहिए।

हम पहले बतला चुके हैं कि शब्द का अर्थ उसके उसी रूप के अन्तर्गत आना चाहिए, जो सबसे अधिक विस्तृत क्षेत्र में प्रचलित हो तथा मानक माना जाता हो। यह नहीं कि 'अखबार' और 'महीना' में भी सारा विवरण दे दिया और 'समाचार पत्र' और 'मास' में भी पूरी व्याख्या कर दी। शब्द के शेष पर्यायों या रूपों के आगे वही मानक और विशेष प्रचलित रूप अभिदिष्ट होना चाहिए, जिसके साथ अर्थ, व्याख्याएँ, मुहावरे आदि दिये गये हों। परन्तु इस प्रकार का अभिदेश करते समय भी कोशकार को बहुत सावधान रहना चाहिए। बहुत-से शब्द ऐसे होते हैं जो एक से अधिक शब्द-भेदवाले होते हैं। यह ठीक है कि संज्ञा शब्द का अभिदेश संज्ञा शब्द के प्रति ही होगा, विशेषण का विशेषण और क्रिया-विशेषण का क्रिया-विशेषण के प्रति। यदि किसी अ० क्रियावाले शब्द के आगे लिखा हो—दे० 'चूना' तो जिज्ञासु को 'चूना' का वही अर्थ देखना चाहिए, जो उसके अ० क्रियावाले विभाग में हो। और यदि किसी संज्ञा शब्द के आगे लिखा हो—दे० 'चूना' तो जिज्ञासु को उसके संज्ञावाले

विभाग के अन्तर्गत ही उसका अर्थ देखना चाहिए। यह तो हुआ जिज्ञासु का काम। पर हम सभी जिज्ञासुओं से यह आशा नहीं रख सकते कि वे इस प्रकार की सूक्ष्म बातों या भेदों का हर समय ठीक और पूरा ध्यान रखेंगे। अतः उनके मार्ग-प्रदर्शन और सहायता के लिए कुछ सुभीता कर देना भी कोशकार का कर्त्तव्य होता है। उसे अभिदेश के समय उस अर्थ का भी कुछ संकेत कर देना चाहिए, जो उस प्रसंग में अभीष्ट हो। जैसे—यदि 'चूना' का अ० क्रियावाला अर्थ उद्दिष्ट हो तो कोष्ठक में उसके आगे टपकना, रसना या और कोई ऐसा प्रसिद्ध पर्याय दे देना चाहिए, जो 'चूना' के क्रियावाले अर्थ में आया हो; और यदि संज्ञावाला अर्थ अभीष्ट हो तो 'चूना' के आगे कोष्ठक में 'फूँका हुआ पत्थर' या इसी प्रकार का और कोई संकेत कर देना आवश्यक है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, अभिदेश के लिए शब्दों की अर्थ-संख्या भी बहुत उपयोगी होती है। यदि हम किसी शब्द के आगे लिख दें—दे० काँटा, घाट, प्रत्यय, प्रलय, मद, राग, वाचन या शाखा, तो जिज्ञासु को उस शब्द के सभी अर्थ देखने पड़ेंगे; और तब अपनी बुद्धि से यह सोचना पड़ेगा कि इन सब अर्थों में से कौन-सा अर्थ अभीष्ट है। पर यदि हम लिखें—दे० 'काँटा' (पक्षियों का), 'काँटा' (तराजू का), काँटा (गणित का) या दे० 'प्रलय' (सृष्टि का) 'प्रलय' (साहित्य का), या दे० 'शाखा' (वृक्ष की), 'शाखा' (वेद की) आदि तो पाठकों को अभीष्ट अर्थ तक पहुँचने या बात समझने में विशेष सुभीता होगा। अथवा यदि हम लिख दें—दे० 'प्रत्यय' १०, या 'राग' ८ या 'वाचन' ४ तो जिज्ञासु बिना किसी कठिनता के और सहज में हमारा आशय समझ लेंगे और तुरन्त अभीष्ट अर्थ तक पहुँच जायँगे।

परिशिष्ट

प्रतिमान शब्दावली

हिन्दी के भावी अच्छे कोशों में शब्दों का विवेचन साधारणतः जिस ढंग से और जिस स्तर पर होना चाहिए, उसके स्वरूप का कुछ दिग्दर्शन भी करा देना आवश्यक जान पड़ता है। इसी दृष्टि से यहाँ नमूने के तौर पर कुछ शब्द और उनके अर्थ, व्याख्याएँ आदि दी जा रही हैं। ये सब शब्द और अर्थ प्रामाणिक हिन्दी कोश के तीसरे परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण से, जो यथा-समय प्रकाशित होगा, लिये गये हैं। इसी प्रकार के शब्द-विवेचन से हिन्दी कोश आदर्श और राष्ट्र-भाषा के गौरव के अनुरूप हो सकते हैं। इसमें भी सुधार और परिवर्द्धन करने के लिए अभी बहुत कुछ अवकाश है। यह तो आरम्भिक मार्ग-प्रदर्शन मात्र है। हिन्दी के भावी सुविज्ञ कोशकार यदि चाहेंगे तो वे शब्द-विवेचन के इस प्रकार से थोड़ा-बहुत लाभ उठाकर यह कार्य और आगे बढ़ा सकेंगे ; और इसी में मेरे सारे परिश्रम की चरितार्थता होगी।

अक्षांश—पुं० [सं० अक्ष + अंश] १. किसी चीज के बल या चौड़ाई की ओर का विस्तार या परिमाण। २. भूगोल में, वह कल्पित रेखा जो याम्योत्तर वृत्त को ३६० अंशों या भागों

में विभक्त करके उसमें के किसी अंश से भू-मध्यरेखा के समान अंतर पर खींची जाती है। ३. उक्त रेखाओं के आधार पर, किसी स्थान की वह स्थिति या दूरी जो भू-मध्य रेखा के उत्तर या दक्षिण होने के विचार से स्थिर की जाती है और संख्या-सूचक अंशों में बतलाई जाती है। (लैटीच्यूड)

विशेष—(क) इसका उल्लेख प्रायः देशांतर के साथ होता है। (ख) किसी स्थान का ठीक ठीक अक्षांश और देशांतर जान लेने पर नक़्शे में वह बहुत सहज में ढूँढ़ा जा सकता है।

अधिकार[१]—पुं [सं०] १. वह तत्त्व जिसके आधार पर कोई व्यक्ति नियमतः या न्यायतः किसी वस्तु का स्वामी माना जाता हो या कोई काम करने के लिए सब प्रकार से समर्थ समझा जाता हो। स्वत्त्व। (राइट) २. वस्तु, संपत्ति आदि पर होनेवाला ऐसा स्वामित्व जो स्वामी को उस वस्तु या सम्पत्ति के सम्बन्ध में सब कुछ कर सकने में समर्थ बनाता है। आधिपत्य। कब्जा। भोग। (पजेशन) ३. किसी वस्तु पर उक्त प्रकार का स्वत्त्व या स्वामित्व जताने की ऐसी क्रिया, जिसके साथ उसकी प्राप्ति के प्रयत्न का भी भाव लगा रहता है। अध्यर्थन। (क्लेम) जैसे—वास्तविक अधिकार (राइटफुल क्लेम)। ४. वह योग्यता या सामर्थ्य जिसके अनुसार किसी में कोई विशिष्ट कार्य कर सकने का बल आता है। शक्ति। (पॉवर) जैसे—अब राज्यपाल को कई नये अधिकार दिये गये हैं। ५. वह शक्ति, जो किसी को विधि, अपने पद, मर्यादा, योग्यता आदि के आधार पर प्राप्त होती है। प्राधिकार। प्रभुत्व। (अथॉरिटी) ६. किसी कार्य, वस्तु या विषय में किसी व्यक्ति का ऐसा पूर्ण ज्ञान जिसके आधार

१. प्रामाणिक हिन्दी कोश के पहले और दूसरे संस्करणों में इस शब्द का जो विवेचन हुआ है, उसकी अपेक्षा यह नया विवेचन और भी अधिक विशद, व्यापक, स्पष्ट तथा युक्ति-संगत किया गया है।

पर उसका कथन या विचार प्रामाणिक या मान्य समझा जाता हो। पूरी जानकारी। (अथॉरिटी) ७ नाट्य-शास्त्र में किसी रूपक के अंतर्गत नायक या किसी और पात्र की वह विकसित स्थिति, जिसमें वह प्रधान फल प्राप्त करने के योग्य होता है। ८. साहित्य में किसी ग्रन्थ का कोई प्रकरण अथवा उसका शीर्षक।

उलटवाँसी— स्त्री० [हिं० उलटा+सं० वाची ?] साहित्य में ऐसी उक्ति या पद्य जिसमें असंगति, विरोध, विचित्र, विषम, विभावना, विशेषोक्ति आदि अलंकारों से युक्त कोई ऐसी विलक्षण बात कही जाती है, जो प्राकृतिक नियम या लोक-व्यवहार के विपरीत हो, पर जिसमें कोई गूढ़ आशय या तत्त्व छिपा हुआ हो। जैसे—(क) पहिले पूत, पाछे भई माइ। चेला कै गुरु लागै पाइ।—कबीर, (ख) समंदर लागी आगि, नदियाँ जरि कोइला भईं।—कबीर।

औपाधिक— वि० [सं० उपधा से] १. उपधा-सम्बन्धी। उपधा का। २. उपधा के रूप में या धोखा देकर किया जानेवाला। (फ्रॉड्यूलेंट) जैसे—किसी चीज का औपधिक उपयोग, या किसी लेख्य का औपधिक प्रयोग।

क—देव-नागरी वर्णमाला का पहला व्यंजन वर्ण। इसका उच्चारण कंठ से होता है। इसे स्पर्श वर्ण भी कहते हैं। कुछ अवस्थाओं में यह शब्दों के अन्त में प्रत्यय के रूप में लगकर ये अर्थ देता है—(क) छोटा या अल्प; जैसे—कूप से कूपक, मानव से माणवक; (ख) करनेवाला; जैसे—लेखक व्यवस्थापक, सूचक आदि; (ग) किसी से सम्बन्ध रखनेवाला; जैसे—संख्यक; (घ) किसी तत्त्व या भाव का सूचक; जैसे—श्रेष्ठक, हीनक आदि। कभी कभी यह संख्यावाचक शब्दों के अन्त में 'एक' के संक्षिप्तक के रूप में लगकर प्रायः या लगभग का अर्थ देता है। जैसे—पाँचक, सातक; और कभी कभी

मात्रा या मान के सूचक शब्दों के अंत में लगकर 'भर' या 'मात्र' का अर्थ देता है; जैसे—तिलक या तिलकु=तिल मात्र या तिल भर! उदा०-नावक सर से लाइ कै, तिलकु तरुनि इत ताँकि।—बिहारी। अवधी और पूर्वी हिन्दी में यह शब्दों के अंत में 'का' विभक्ति के रूप में भी लगता है। उदा०—बनियक सखरच ठकुरक हीन।—घाघ। कहीं कहीं यह 'को' का भी अर्थ देता है। जैसे—काहुक=किसी को।

करुण—पुं० [सं०] १. दे० 'करुणा'। २. परमेश्वर। ३. साहित्य में नौ रसों में से एक, जो किसी सुखद वस्तु के अपहरण या नाश, प्रिय व्यक्ति की मृत्यु या वियोग, कष्टदायक या हानिकारक घटना अथवा अनिष्ट प्रसंग या वस्त की प्राप्ति से मन में होनेवाले कष्ट या दुःख अथवा किसी दीन-दुःखी के प्रति होनेवाली दया या सहानुभूति के फल-स्वरूप उत्पन्न होता है।

वि० जिसके मन में करुणा हो। करुणा-युक्त। दयार्द्र।

कोमल—वि० [सं०] [स्त्री० कोमला, भाव० कोमलता] १. जिसकी ऊपरी सतह कड़ी न हो और दबाने से सहज में दब जाय। मुलायम। २ जो सहज में काटा, तोड़ा या मोड़ा जा सके। नरम। ३. जो सुनने में अप्रिय, उग्र या कटु न हो। मुलायम। ४. (मनोवृत्ति या हृदय) जिसमें उदारता, दया, प्रेम आदि भाव पूरी तरह से हों। 'कठोर' का विर्याय (सॉफ्ट उक्त सभी अर्थों के लिए) ५. नाजुक। सुकुमार। ६. मनोहर। सुन्दर। ७. (संगीत में वह स्वर) जो अपने साधारण मान से कुछ नीचा या हलका हो। 'तीव्र' का विपर्याय। (रे, ग, म, ध और नि ये पाँचो स्वर कोमल और तीव्र दोनों प्रकार के होते हैं, केवल सा और प में ये भेद नहीं होते।)

खरा— वि० [सं० खर=तीक्ष्ण या खारः=कठोर] [स्त्री० खरी] १. जिसकी बातों की प्रामाणिकता निश्चित और निर्वि-

वाद हो। सदा सब बातें सच और साफ कहनेवाला। जैसे—खरा आदमी। २. जिसमें किसी प्रकार का छल-कपट या धोखा न हो। साफ। जैसे—खरा व्यवहार। ३. जिसमें किसी तरह की रद्दी मिलावट न हो। खालिस। विशुद्ध। जैसे—खरा सोना। ४. जो साधारणतः औरों की अपेक्षा बहुत अच्छा हो। बढ़िया। ५. (पकवान) जो अच्छी तरह तल या सेंककर करारा कर लिया गया हो। जैसे—खरी पूरी। ६. (प्राप्य धन) जो प्राप्त हो गया हो या जिसके मिलने में कुछ भी सन्देह न रह गया हो। जैसे—चलो, सौ रुपये तो खरे हो गये। ७. जिसमें कुछ भी कमी न हो। पूरा। उदा०—खरी पातरी कान की कौन बहाऊ बानि।—बिहारी। ८. बहुत अधिक। अत्यंत। बेहद।

क्रि० वि० १. वस्तुतः। सचमुच। उदा०—ऊधौ! खरिए जरी हरि के सूलन की।—सूर। २. निश्चित रूप से। ३. ठीक या पूरी तरह से।

* पुं० [सं० खर] तृण। तिनका। (क्व०)

मुहा०—* खरा भर=तिनका भर। बहुत थोड़ा। उदा०—चले मुदित मन डरु न खरो सो।—तुलसी।

खाल—स्त्री० [सं० खल्लः] १ प्राणियों के शरीर का वह ऊपरी आवरण, जिसपर रोएँ या बाल होते हैं। चर्म। त्वचा। २ कुछ विशिष्ट प्रकार के प्राणियों के शरीर पर से निकाला हुआ उक्त अंश जो (क) या तो बालों सहित साफ करके ओढ़ने, बिछाने आदि के काम में आता है (स्किन); या (ख) ऊपरी बाल साफ करके सिझाकर चमड़े के रूप में परिवर्त्तित किया जाता है। (हाइड) ३ धौंकनी, जो पशुओं के मृत शरीर से उतारे हुए चमड़े से बनती है। (क०)

गढ़वै*—वि० [हिं० गढ़=सुरक्षित स्थान] आश्रय के लिए सुरक्षित स्थान में छिपा हुआ। उदा०—गरम भाजि गढ़वै

भई, तिय-कुच अचल मवास।—बिहारी।

*पुं० दे० 'गढ़पति'।

गौणी—स्त्री० [सं०] साहित्य में एक प्रकार की वृत्ति या लक्षणा का एक प्रकार या भेद, जिसमें किसी पद का अर्थ केवल गुण, रूप आदि के सादृश्य (उसके कार्य-कारण या अंगांगी भाववाले सम्बन्ध से भिन्न) वाले तत्त्व से निकलता है। जैसे—यदि कहा जाय—'देवदत्त सिंह है।' तो शब्दार्थ के विचार से ऐसा होना असम्भव है; पर समझनेवाला इसी (वृत्ति या लक्षणा) के द्वारा यह समझता है कि देवदत्त, सिंह के समान बलवान या पराक्रमी है।

चक्र—पुं० [सं०] [वि० चक्रीय] १ कोई ऐसी गोल (वर्त्तुल) चीज जो प्रायः घूमती रहती हो या घूमती रहने के लिए बनाई गई हो। जैसे—गाड़ी का पहिया, आटा पीसने की चक्की या कुम्हार का चाक, जिसपर मिट्टी के बरतन बनते हैं। २. चक्कर। फेरा। ३. उतना समय, जितने में कुछ विशिष्ट घटनाएँ किसी क्रम से होती हैं और फिर उतने ही समय में जिनकी पुनरावृत्ति होती है। (साइकिल) ४. प्राचीन काल का एक प्रकार का अस्त्र जो छोटे पहिए के आकार का होता था। ५. योग-शास्त्र के अनुसार शरीर के कुछ विशिष्ट अंग या स्थान, जो आधुनिक विज्ञान-वेत्ताओं के अनुसार कुछ विशिष्ट जीवन-रक्षिणी और विकास-कारिणी गिल्टियों के आस-पास पड़ते हैं।

विशेष—पहले इनकी संख्या ६ मानी गई थी, जिससे 'षट्चक्र' (देखें) पद बना। आगे चलकर परवर्त्ती हठ-योग में इनकी संख्या ७ और तब ८ हुई; और ये 'कमल' कहलाने लगे, जिससे 'अष्ट-कमल' पद बना। (दे० 'अष्ट-कमल') आगे चलकर इसमें 'ललना-चक्र' नाम का एक नया चक्र भी बढ़ा दिया गया। अब कुछ लोगों ने एक दसवाँ 'गुरु चक्र' भी माना है।

६. कुछ विशेष प्रकार या वर्ग के लोगों का दल या मण्डली। ७. अपना संघटन दृढ़ करने के लिए राजनीतिक, सामाजिक आदि कार्य करनेवालों का किसी स्थान पर एकत्र होकर किया जानेवाला विचार-विनिमय, प्रदर्शन आदि । जमाव । (रैली) ८. चुपचाप एक जगह बैठकर गुप्त रूप से या आड़ में रहकर की जानेवाली कारखाई । अभिसंधि । जैसे—यह सारा चक्र आपका ही चलाया हुआ है । ९. (संख्या के विचार से) बन्दूक से गोली चलाने की क्रिया । (राउण्ड) जैसे—पुलिस ने चार चक्र गोलियाँ चलाईं । १०. धातु का एक विशेष आकार का टुकड़ा जो प्रायः सैनिकों को कोई अच्छा या वीरतापूर्ण काम करने पर पदक या तमगे के रूप में दिया जाता है । (क्रॉस) जैसे—वीर-चक्र, महा-वीर-चक्र, आदि । ११. दिशा । ओर ।

छायावाद—पु० [सं०] [वि० छायावादी] आधुनिक साहित्य में, आत्म-अभिव्यक्ति का वह नया ढंग या उससे सम्बन्ध रखनेवाला सिद्धान्त, जिसके अनुसार किसी सौन्दर्य-मय प्रतीक की कल्पना करके ध्वनि, लक्षणा आदि के द्वारा उसके सम्बन्ध में अपनी अनुभूति या आन्तरिक भाव प्रकट किये जाते हैं । (रहस्य-वाद से भिन्न)

जिरह—स्त्री० [अ० जरह या जुरह] १. हुज्जत । तकरार । २. किसी की कही हुई बातों की सत्यता की जाँच के लिए की जानेवाली पूछ-ताछ ।

पुं० [पह्लवी ज्राइ, फा० जिरह] लोहे की कड़ियों से बना हुआ एक प्रकार का अँगरखा जो युद्ध के समय योद्धा पहनते थे । वर्म । (बकतर से भिन्न)

झिलम—स्त्री० [हिं० झिलमिल] युद्ध के समय पहने जाने-वाले टोप में पीछे की ओर लगी हुई सिकड़ियों की वह झालर जो गरदन पर लटकती रहती थी ।

टोप—पुं० [प्रा० टोपिअ] १. बड़ी टोपी। २. लोहे की वह बड़ी टोपी (झिलम से भिन्न) जो योद्धा लोग युद्ध के समय पहनते थे। शिरस्त्राण। खोद।

ठीक—वि० [सं० स्थित या स्थिर ?] १. जैसा हो या होना चाहिए, वैसा ही। प्रामाणिक। यथार्थ। २. आचार, नीति आदि के विचार से जैसा होना चाहिए, वैसा। उचित। मुनासिब। वाजिब। (राइट) ३. जिसमें किसी प्रकार की भूल या दोष न हो। शुद्ध। (करेक्ट) ४. जिसकी त्रुटियाँ या दोष दूर कर दिये गये हों। दुरुस्त। जैसे—घड़ी ठीक करना। ५ जो किसी स्थान पर अच्छी तरह बैठे या जमे। उपयुक्त। ६. सीधे रास्ते पर आया या लाया हुआ।

मुहा०—(किसी को) ठीक करना=दण्ड आदि देकर उचित मार्ग पर लाना।

७. ठहराया या निश्चित किया हुआ। पक्का। स्थिर। जैसे—रहने के लिए मकान ठीक करना।

पुं० १. पक्की बात। २. निश्चय।

मुहा०—(मन में) ठीक देना*=पक्का निश्चय करना। उदा०—करि विचार मन दीन्हीं ठीका।—तुलसी।

३. पक्का या स्थिर प्रबन्ध। ठहराव। निश्चय। ४ संख्याओं आदि का जोड़। योग।

क्रि० प्र०—देना।—लगाना।

क्रि० वि० १. जैसे चाहिए, वैसे। उचित रूप या प्रकार से। जैसे—घड़ी ठीक चल रही है। २. अवधि, सीमा आदि के विचार से, नियत समय पर। जैसे—ठीक बारह बजे, ठीक साल भर बाद।

ताल—पुं० [सं०] १ हाथ की हथेली। कर-तल। २ हथेलियों के आघात से उत्पन्न होनेवाला शब्द। कर-तल-ध्वनि। ताली। ३. संगीत में समय का परिमाण ठीक रखने के लिए

थोड़े-थोड़े, परन्तु नियत अन्तर पर हथेली या और किसी चीज से किया जानेवाला आघात ।

मुहा०—ताल देना=संगीत के समय उक्त प्रकार का आघात करना। **ताल पूरना**=(स०) ताल देना।(अ०) ताल का आकर सम पर पूरा होना या गिरना । (संगीत) उदा०—इस मनु आगे पूरै ताल ।—कबीर ।

४. संगीत में उक्त प्रक्रिया के अंतर्गत कुछ निश्चित आघातों का (जिनमें से प्रत्येक आघात 'मात्रा' कहलाता है) एक अलग वर्ग या समूह । जैसे—चार या छः मात्राओं का ताल । ५. संगीत में ढोल, तबले, मृदंग आदि बजाने का कोई विशिष्ट प्रकार, जो उक्त अनेक तालों के योग से बना और किसी विशिष्ट राग या लय के विचार से स्थिर किया गया हो । जैसे—चौताल, झूमरा, रुद्र ताल, रूपक ताल । ६. झाँझ, मँजीरा आदि बाजे जो उक्त विचार से समय का परिमाण ठीक रखने के लिए बजाये जाते हैं । ७. कुश्ती लड़ने के समय जाँघ या बाँह पर हथेली के आघात से उत्पन्न किया जानेवाला शब्द । (पहलवान)

मुहा०—ताल ठोंकना=उक्त प्रकार का आघात करके या और किसी प्रकार यह सूचित करना कि आओ, हम से लड़कर बल-परीक्षा कर लो ।

८. ताड़ का पेड़ । ९ ताला । १०. ऐनक या चश्मे में लगे हुए काँच, बिल्लौर आदि के टुकड़ों या पल्लों में से हर एक । (लेन्स)

पुं० [सं० तल्ल] [स्त्री० अल्पा० तलैया] छोटा जलाशय। तालाब।

तुल्य-योगिता—स्त्री० [सं०] साहित्य में एक अलंकार, जिसमें कुछ बातों में समानता रखनेवाले कई अप्रस्तुत अथवा प्रस्तुत पदार्थों के किसी एक धर्म से युक्त या सम्बद्ध होने का उल्लेख होता है। (ईक्वल पेयरिंग) जैसे—तुम्हारे मुख ने कमल और चन्द्रमा दोनों को जीत लिया ।

विशेष—इसमें एक साथ केवल अप्रस्तुत पदार्थों के एक धर्म से सम्बद्ध होने का उल्लेख होता है। यदि अप्रस्तुत और प्रस्तुत का एक साथ उल्लेख हो, तो वहाँ दीपक अलंकार हो जायगा।

दाँव—पुं० [सं० दातृ = भाग या दाम देना ?] १. बार। दफा। मरतबा। २. कोई कार्य करने या खेल खेलने का वह अवसर या पारी जो सब खेलाड़ियों को बारी बारी से मिलती है। पारी।

मुहा०—*दाँव पूरना=(क) ठीक तरह से बाजी खेलकर अपना अपना पक्ष निभाना। (ख) अपना कर्त्तव्य पूरा करना। उदा०—अब की बार जो होय पुकार। कहहिं कबीर तो पूर दाँव।—कबीर।

३. उपयुक्त या अनुकूल अवसर। मौका।

मुहा०—(किसी के) दाँव पर (कुछ) कहना= किसी की हाँ में हाँ मिलाना। अनुचित या मिथ्या बात का भी समर्थन करना। उदा०—रहिमन जो रहिबो चहै, कहै वाहि के दाँव।—रहीम। दाँव लगना= अनुकूल अवसर मिलना। दाँव लेना= अनुकूल अवसर पाकर बदला लेना।

४. कुश्ती या प्रतियोगिता में विपक्षी को हराने या दबाने के लिए काम में लाई जानेवाली युक्ती। चाल। पेंच। ५. पाँसे, जूए की कौड़ियों आदि का इस प्रकार पड़ना जिससे जीत हो। ६. वह धन जो ऐसे खेलों के समय हार-जीत के लिए खेलाड़ी सामने रखते हैं।

मुहा०—(कोई चीज) दाँव पर लगाना=जोखिम या साहस का काम इस प्रकार करना कि यदि काम पूरा न हो तो अपनी ही कोई हानि हो। जैसे—उन्होंने इस चुनाव में अपना सर्वस्व दाँव पर लगा दिया।

७. ठौर। जगह। स्थान। ८. कार्य-साधन की युक्ति। चाल।

मुहा०—किसी के दाँव पर चढ़ना=ऐसी विवश स्थिति में होना कि दूसरा अपना मतलब निकाल सके।

देशांतर—पुं० [सं० देश+अन्तर] [भूत० कृ० देशान्तरित, वि० देशान्तरी] १. अपने देश से भिन्न कोई दूसरा या पराया देश। विदेश। २. दे० 'देशान्तरण'। ३. भूगोल में, किसी विशिष्ट स्थान (प्राचीन भारत में उज्जयनी और आज-कल लन्दन के पास का ग्रीनविच कस्बा) की याम्योत्तर रेखा के विचार से निश्चित की हुई किसी स्थान की पूर्वी या पश्चिमी दूरी, जो अक्षांश की तरह संख्या-सूचक अंशों में बताई जाती है। भुजांश। (लाँगीच्यूड) विशेष दे० 'अक्षांश' २।

दोवटी (ड़ी) †—स्त्री० [सं० द्विपट्ट, पु० हिं० दोवटा] १. साधारण देशी मोटा कपड़ा। खद्दड़। गजी। गाढ़ा। (राज०) उदा०—गैणो तो म्हारो माला दोवड़ी औ चन्दन की कुटकी।—मीराँ। २. चादर। दुपट्टा। उदा०—पाँच गज दोवटी माँगी, चून लीयौ सानि।—कबीर।

धृति—स्त्री० [सं०] १. धरने या पकड़ने की क्रिया या भाव। धारण। २. स्थिर रहने या होने की क्रिया या भाव। ठहराव। ३. मन की वह दृढ़ता जो बहुत अधिक कष्ट या विपत्ति आने पर भी मनुष्य को अपने कर्त्तव्य, धर्म-पालन, सन्मार्ग आदि से विचलित नहीं होने देती। धैर्य। धीरज। (साहित्य में इसे संचारी भाव माना गया है।) ५. छन्द शास्त्र में १८ अक्षरोंवाले छन्दों का वर्ग।

निरति—स्त्री० [सं० निर्ऋति] १. शब्द या ध्वनि का अभाव। २. शून्य स्थान। आकाश। ३. रहस्य संप्रदाय में (क) मनुष्य की आत्मा में रहनेवाला परमात्मा का अंश या स्वरूप। (ख) उक्त स्वरूप का ज्ञान होने पर मनुष्य को प्राप्त होनेवाला निरतिशय या परम आनन्द या उसका पद। उदा०—दे० 'सुरति'

में । ४. खबर । समाचार । (राज०)

*स्त्री०=नृत्य (नाच) ।

*स्त्री०=रति ।

परतना—अ० [सं० पर] १. वापस आना । लौटना । २. पीछे की ओर घूमना । मुड़ना । (पं०)

मुहा०—परत कर कोई काम न करना=भूलकर भी कोई काम न करना । बहुत दूर रहना । उदा०—मोती मानिक परत न पहिरूँ, मैं कब्र की नटकी ।—मीराँ ।

† स० [हिं० परत] परत या तह लगाना ।

पात—पुं० [सं०] [वि० पातिक] १. कहीं से या किसी पर आकर गिरना । गिराव । पतन । २. गणित-ज्योतिष में, उन दो विन्दुओं में से कोई एक, जहाँ किसी ग्रह या नक्षत्र की कक्षा क्रांतिवृत्त को काटती है या कोई दो वृत्त एक दूसरे को काटते हैं । ३. ज्यामिति में वह विन्दु जहाँ कोई वक्र रेखा मुड़कर अपने किसी अंश को काटती है । (नोड) ४. मृत्यु । मौत । ५. नाश । बरबादी ।

† पुं०=[सं० पत्र] पेड़ का पत्ता । पत्र ।

पूरना—स० [सं० पूरण] १. पूरा करना । पूर्त्ति करना । २. आच्छादित करना। ढकना । ढाँकना । ३. पूर्ण करना । भरना । ४. (कार्य या मनोरथ) सफल या सिद्ध करना । ५. मंगल अवसरों पर आटे, अबीर आदि से देव-पूजन के लिए गोल, तिखूँटे, चौकोर आदि क्षेत्र बनाना । चौक बनाना । ६. आवश्यक और उपयुक्त स्थान पर रखना या लगाना । उदा०—हरि रहीम ऐसी करी, ज्यों कमान सर पूर ।—रहीम । ७. बट डालना या देना । बटना । ८. तार, सूत आदि के रूप में बनाना । जैसे—सेवईं पूरना, मकड़ी का जाला पूरना । ९. कपड़ा बुनने से पहले ताने के सूत फैलाना । जैसे—तागा पूरना । १०. फूँककर बजाये

जानेवाले बाजे में मुँह से हवा भरकर उसे बजाना। जैसे—शंख या सिंगी पूरना।

अ० १. पूर्ण होना। भर जाना। २. (काम) पूरा या समाप्त होना। ३. पूरने का काम होना। पूरा जाना।

प्राण-वायु— स्त्री० [सं०] वातावरण में रहनेवाली एक प्रसिद्ध वाष्प जिसमें कोई गन्ध, वर्ण या स्वाद नहीं होता और जो प्राणियों, वनस्पतियों आदि को जीवित रखने के लिए परम आवश्यक है। (ऑक्सिजन)

प्रेय— पुं० [सं० प्रेयस] १. आध्यात्मिक क्षेत्र में, शरीर और इन्द्रियों के सुख-भोग अथवा लौकिक विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली बातें या तत्त्व। 'श्रेय' का विपर्याय। २. साहित्य में वह अवस्था जिसमें एक भाव किसी दूसरे भाव के सामने दबकर गौण रूप धारण कर लेता है। इसकी गणना अलंकारों में होती है।

वि०[स्त्री० प्रेयसी]१. प्रिय। प्यारा। २. अभीष्ट। वांछित।

बकतर—पुं० [फा०] [स्त्री० अल्पा० बकतरी] युद्ध के समय पहनने का एक प्रकार का अँगरखा, जिसमें आगे और पीछे लोहे के दो-दो तवे लगे रहते थे। चार-आईना। सन्नाह। (जिरह से भिन्न)

बद्ना—स० [सं० वद्=कहना] [भाव० बद्नी] १. वर्णन करना। २. बोलना। कहना। ३. प्रमाण के रूप में मानना। ठीक मानना। उदा०—औरहू न्हायों सु मैं न बदी, जु पै नेह नदी में न दी पग-आँगुरी।—नागरीदास। ४. नियत करना। ठहराना। उदा०—अवधि बदि सैयाँ अजहूँ न आये।—गीत

मुहा०—बदा होना=भाग्य में लिखा होना। बद्कर=(क) जान-बूझकर और हठ-पूर्वक; या (ख) दृढ़तापूर्वक कहकर (कुछ करना)।

५. बाजी या शर्त लगाना। ६. कुछ महत्त्व का मानना। मान्य समझना। उदा०—(क) सकति सनेहु कर सुनति करीऔ, मैं न बदउँगा भाई।—कबीर। (ख) बदत हमको नैंकु नाहीं, मरहिं औ पछिताहिं।—सूर।

भुजायन—पुं० [सं० भुजा से] १ भुजाओं के रूप में अपने कुछ अंग शरीर के बाहर निकालना। २ किसी पदार्थ का अपना कोई गुण, तत्त्व आदि उक्त प्रकार से बाहर निकालकर आस-पास या चारों ओर फैलना या फैलाना। (रेडिएशन) जैसे–ताप विद्युत् या चन्द्रमा, सूर्य आदि की किरणों का भुजायन।

भूनना—स० [सं० भर्जन] [भाव० भुनाई] १. आग या और किसी प्रकार के ताप से कोई चीज इतनी गरम करना कि उसकी आर्द्रता निकल जाय। (पकाना से भिन्न) जैसे—भाड़ में दाने भूनना। २. रासायनिक क्षेत्र में, कोई चीज इस प्रकार तपाना कि उसमें के अवांछित तत्त्व जल या निकल जायँ। (रोस्टिंग) जैसे—खनिज पदार्थ गलाने से पहले भूनना। ३. किसी को बहुत अधिक कष्ट देना। संतप्त करना। जलाना।

भौतिक— वि० [सं०] [भाव० भौतिकता] १. पंच-भूत से संबंध रखनेवाला। २. पाँचों भूतों से बना हुआ। ३. इस लोक या यहाँ के पदार्थों से संबंध रखनेवाला। पार्थिव। ४. किसी वस्तु के प्राकृतिक नियमों, रूपों, सिद्धांतों आदि से सम्बन्ध रखनेवाला। (फिजिकल) जैसे—भौतिक धातु विज्ञान, भौतिक भूगोल, आदि।

मंगलना†—स० [सं० मंगल=शुभ] प्रज्वलित करना। जलाना। जैसे—दीया मंगलना, होली मंगलना। (मंगल-भाषित के रूप में; उदा०—दे० 'मँगारना' में।)

मँगारना†—स०=मंगलना। उदा०—·····बिरह अँगारनि मँगारि हिय होरी सी।—घनानन्द।

मानवतावाद—पुं० [सं०] [वि० मानवतावादी] यह सिद्धांत कि सारी मानव-जाति के कल्याण और सुख के लिए प्रयत्न करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। (ह्यूमैनिटेरियनिज्म)

मुकलाना†—स० [सं० मुक्त या मुकलित ?] १. खोलना। उदा०—खोंपा छोरि केस मुकलाई।—जायसी। २. छोड़ना। ३. मुकलावा या द्विरागमन कराके बहू को अपने घर ले आना। (पं०) उदा०—सुत मुकलाई अपनी माउ।—कबीर।

मुखांग—पुं० [सं० मुख+अंग] वह जो किसी ऐसे व्यक्ति की ओर से बोल रहा हो, जो स्वयं किसी कारण से चुप रहना चाहता हो। (माउथ-पीस) जैसे—आज तो आप उनके मुखांग बनकर बातें कर रहे हैं।

मुद्रा—स्त्री० [सं०] १. दूसरी चीजों पर नाम आदि अंकित करने की मोहर। (सील) २. ऐसी अँगूठी जिस पर किसी का नाम अंकित हो। (प्राचीन काल में प्रायः इसी से मोहर का काम लिया जाता था।) ३. (क) वे सभी ऐसी चीजें जो क्रय-विक्रय के सुभीते या देना-पावना चुकाने के लिए मानक साधन के रूप में मान ली गई हों और जिन्हें लोग निस्संकोच भाव से देते-लेते हों। (मनी) जैसे—सिक्के, सरकारी चल-पत्र (नोट) आदि। (ख) किसी विशिष्ट देश में प्रचलित उक्त सभी साधन। (करेन्सी) जैसे—भारतीय मुद्रा, सुलभ मुद्रा आदि। ४. गोरख-पंथी साधुओं का कान में पहनने का स्फटिक या काठ का वलय या कुण्डल। ५. खड़े होने, बैठने आदि में शरीर के अंगों की कोई स्थिति। ठवन। (पोस्चर) ६. मुँह, हाथ आदि का ऐसा संचालन या स्थिति (अथवा तत्संबंधी कोई ऐसा कार्य) जिससे मन का कोई विशेष भाव या आकांक्षा प्रकट होती हो। (गेस्चर) ७. योग-साधन में, कुछ विशेष प्रकार से बैठने के अनेक ढंगों में से कोई ऐसा ढंग, जो सिद्धि

प्राप्त कराने में सहायक माना गया हो । ८. हठ योग के ये अंग-विन्यास—खेचरी, भूचरी, चाचरी, गोचरी और उन्मनी । ९. विष्णु के आयुधों के चिह्न, जो वैष्णव भक्त अपने शरीर के अंगों पर अंकित कराते या दगवाते हैं । छाप । १०. साहित्य में एक शब्दालंकार जिसमें वर्णन से प्रकृत या प्रस्तुत अर्थ तो निकलता ही है, उसके सिवा शब्दों के कुछ अक्षर पहले के या बादवाले शब्द के साथ मिलाने पर कोई और अर्थ भी निकलता है । यह श्लेष का एक प्रकार ही है । जैसे—'की करपा करतार' (ईश्वर ने कृपा की ।) में कीकर, पाकर, तार (ताड़) वृक्षों के नाम भी बन जाते हैं । ११. आज-कल, ग्रंथों आदि की छपाई के लिए सीसे के ढले हुए उलटे अक्षर जो छपने पर सीधे आते हैं । (टाइप)

यथा-कृत—वि० [सं०] जैसा आरम्भ में बना या रहा हो, वैसा ही । जैसे—यथा-कृत वस्त्र=बिना सीया हुआ कपड़ा ।

पुं० वह अवस्था जो पहले से चली आ रही हो और इस समय भी वर्तमान हो । प्रचलित स्थिति । (स्टेटस को)

याम्योत्तर रेखा—स्त्री० [सं०] खगोल और भूगोल में, वह कल्पित रेखा जो किसी विशिष्ट स्थान (जैसे—प्राचीन भारत में उज्जयिनी, अथवा आज-कल इंगलैंड के ग्रीनिच नगर) के खस्वस्तिक से चलकर सुमेरु और कुमेरु को पार करती हुई एक पूरा वृत्त बनाती है । (मेरीडियन)

रसायन—पुं० [सं०] [वि० रासायनिक] १. प्राचीन काल का एक प्रयोग, जो ताँबे को सोना बनाने के प्रयत्न के लिए बहुत दिनों तक संसार के अनेक भागों में चलता था । २. वैद्यक में, चिकित्सा की वह प्रक्रिया जो मनुष्य को सदा पुष्ट और स्वस्थ बनाये रखने के लिए होती है । ३. उक्त प्रकार का फल दिखलाने-वाली कोई दवा या दूसरी चीज । ४. किसी प्रकार का उद्देश्य निश्चित रूप से और सहज में सिद्ध करनेवाला कोई उपाय या

तत्त्व । ५. प्राचीन भारत का एक सम्प्रदाय जिसमें रासायनिक प्रक्रिया या प्रयोगों के द्वारा मनुष्य को जीवन्मुक्त और अमर बनाने की साधना होती थी । ६. दे० 'रसायन-शास्त्र' ।

रहस्यवाद—पुं० [सं०] आधुनिक साहित्य में, अभिव्यक्ति का एक नया ढंग या उससे सम्बन्ध रखनेवाला सिद्धान्त (छायावाद से भिन्न) जो भावुक मनुष्य में होनेवाली उस सात्विक अनुभूति पर आश्रित होता है, जो परमात्मा की सर्व-व्यापकता की कल्पना से उद्भूत होती है और जिसके फल-स्वरूप वह परमात्मा के प्रति होनेवाले जीवात्मा के प्रेम का द्योतन करता है ।

राज्य—पुं० [सं०] [वि० राज्यीय] १. राजा का काम । शासन । २. प्राचीन काल में, कोई ऐसा देश जिसपर किसी राजा का शासन हो । ३. आज-कल, निश्चित सीमाओंवाला वह भू-भाग और उसमें स्थायी रूप से बसा हुआ जन-समूह जो अपने स्वतन्त्र राजनीतिक संघटन के अधीन हो । (स्टेट, अन्तिम दोनों अर्थों के लिए)

विशेष—भारतीय संविधान में ये राज्य क, ख, ग और घ नाम के चार भागों में बँटे हैं । क राज्यों के अन्तर्गत वे भू-भाग हैं, जो पहले प्रान्त कहलाते थे । जैसे—आसाम, बिहार, मदरास आदि । ख राज्यों में वे भू-भाग हैं जो पहले किसी एक या अनेक देशी रियासतों या रजवाड़ों के अधीन थे । जैसे—मैसूर, हैदराबाद, राजस्थान, विन्ध्य प्रदेश, मध्य भारत आदि । ग राज्यों में वे भू-भाग हैं जो पहले चीफ कमिश्नरों के अधीन थे; जैसे—अजमेर, कुर्ग, दिल्ली आदि । और घ राज्यों में अंडमन तथा निकोबार के टापू हैं ।

रूप-विधान—पुं० [सं०] १. जीव-विज्ञान का वह अंग या शाखा जिसमें जीव-जंतुओं और वनस्पति के अंगों तथा रूपों की रचना या बनावट और उसमें होनेवाले विकारों या विकासों का

विवेचन होता है। २. भाषा विज्ञान और व्याकरण का वह अंग या शाखा जिसमें शब्दों की बनावट या रूप और उसमें होनेवाले विकारों आदि का विवेचन होता है। (मारफॉलोजी, उक्त दोनों अर्थों के लिए)

लक्षण—पुं० [सं०] [वि० लाक्षणिक] १. वह विशेषता, जिसके आधार पर कोई चीज पहचानी जाय या जिससे किसी बात का पता लगे या अस्तित्व सूचित हो। चिह्न। निशान। (सिम्प्टम) जैसे—वर्षा होने के लक्षण, रोग के लक्षण आदि। २. किसी वस्तु में पाये जानेवाले वे विशिष्ट गुण या तत्त्व जिनसे वह दूसरी वस्तुओं से भिन्न या स्वतन्त्र अस्तित्ववाली मानी जाती है। अनुभाव। (कैरेक्टरिस्टिक) ३. नाम। संज्ञा। ४. परिभाषा। ५. सामुद्रिक में, शरीर के अंगों पर के शुभ और अशुभ माने जानेवाले कुछ विशेष प्राकृतिक चिह्न। ६. चाल-ढाल। रंग-ढंग।

लारे †—अव्य० [?] १ वास्ते। लिए। २ आधार पट। उदा०—राग को आदि जिती चतुराई, सुजान कहै सब याही के लारै।—सुजान।

लौहिक—वि० [सं०] १ लोहे का बना हुआ। लोहे का। २ लोहे से सम्बन्ध रखनेवाला। ३ (द्रव्य) जिसमें लोहे का भी कुछ अंश या मेल हो। (फेरस)

वायु-संवलन—पुं० [सं०] [वि० वायु-संवलित] यांत्रिक या वैज्ञानिक प्रक्रिया से ऐसी व्यवस्था करना कि किसी घिरे हुए स्थान के ताप-मान पर उसके बाहर के ताप-मान का प्रभाव न पड़ने पावे; अर्थात उसमें की सरदी या गरमी नियमित और नियंत्रित रहे। (एयर-कन्डिशनिंग)

विष्वक सिद्धांत—पुं० [सं०] दर्शन और न्याय शास्त्रों में, वह सिद्धान्त जो किसी वर्ग या विभाग के सभी पदार्थों, व्यक्तियों या सभी प्रकार के तत्त्वों के लिए समान रूप से प्रयुक्त

होता या हो सकता हो। (डॉक्ट्रिन ऑफ यूनिवर्सल्स)

श्रुति—स्त्री० [सं०] [वि० श्रुत, श्रुत्य, श्रौत्य] १. श्रवण करना। सुनना। २. सुनने की इन्द्रिय। कान। ३. सुनी हुई बात। ४. सृष्टि के आरम्भ से चला आया हुआ पवित्र और अ-पौरुषेय ज्ञान का भंडार, वेद। ('स्मृति' से भिन्न) ५. चार की संख्या का सूचक शब्द। ६. एक प्रकार का अनुप्रास। विशेष दे० 'श्रुत्यनुप्रास'। ७. भाषा-विज्ञान में, वह ध्वनि जो किसी शब्द का उच्चारण करने के समय एक वर्ण या स्वर से दूसरे वर्ण या स्वर तक पहुँचने के समय बीच में प्रायः अस्पष्ट या अज्ञात रूप से होती है। ८. उक्त के आधार पर संगीत शास्त्र में, सातों में से प्रत्येक स्वर के कुछ नियत और निश्चित खंड या विभाग। स्वर के आरम्भ, मध्य और अंत के भाग। (षड़ज में ४, ऋषभ में ३, गांधार में २, मध्यम में ४, पंचम में ४, धैवत में ३ और निषाद में २, इस प्रकार कुल २२ श्रुतियाँ मानी गई हैं, जिनके अलग अलग नाम हैं।)

संतर्पण—पुं० [सं०] [वि०संतृप्त] १. अच्छी तरह तृप्त, प्रसन्न या संतुष्ट करने की क्रिया या भाव। २. विज्ञान में, कोई ऐसी प्रक्रिया जिससे (क) कोई घोल किसी वस्तु के अन्दर पूरी से समा जाय; या (ख) कोई तत्त्व या वस्तु किसी दूसरे पदार्थ के अन्दर अच्छी तरह भर जाय। (सैचुरेशन)

सही—अव्य० [सं० सहन, हिं० सहना या सिद्ध ?] एक शब्द जो कुछ विशिष्ट प्रसंगों में वाक्य के अन्त में लगकर ये अर्थ देता है—(क) सुनकर सह या मान लेना; जैसे—यह भी सही। (ख) अधिक नहीं तो इतना अवश्य; जैसे—आप लीजिए तो सही; (ग) कोई असम्भावित बात होने पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कुछ जोर देने के लिए; जैसे—आप वहाँ गये सही ! उदा०—प्रभु आशुतोष कृपालु शिव अबला निरखि बोले सही।—तुलसी। वि० [फा० सहीह] १. मान्य और सत्य। प्रामाणिक। २. शुद्ध।

ठीक। 'गलत' का विपर्याय।

मुहा०—(किसी व्यक्ति या बात की) सही भरना= यह कहना कि हाँ, यह ठीक है। सत्यता की साक्षी देना।

स्त्री० १. (सत्य या ठीक होने के प्रमाण-स्वरूप किया जानेवाला) दस्तखत। हस्ताक्षर। २. प्रामाणिकता या उसके फल-स्वरूप होनेवाली मान्यता। जैसे—चुप रहने की सही नहीं।

सुरति—स्त्री० [सं०] १ पति-पत्नी का वह प्रेम जो काम-वासना की तृप्ति से उत्पन्न होता है। २ दे० 'रति'।

† स्त्री० [सं० श्रुति] अपौरुषेय ज्ञान का भंडार, वेद। श्रुति। उदा०—सुरति सुमृति दोउ को विसवास।—कबीर। २. हठ-योग के अनुसार अन्तःकरण में होनेवाला अंतर्नाद। विशेष दे० 'सुरति-निरति'। उदा०—सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार। —कबीर।

स्त्री० १ दे० 'सुरत'। २. दे० 'सूरत'।

सुलभ मुद्रा—स्त्री० [सं०] अर्थ-शास्त्र में, किसी ऐसे देश की मुद्रा जो किसी राष्ट्र या राज्य को उस देश से माल मँगाने के लिए सहज में प्राप्त हो सके। (सॉफ्ट करेन्सी)

विशेष—यदि हमारे देश में किसी दूसरे देश से आयात कम और नियात अधिक होता हो तो फलतः उस देश की मुद्रा हमारे लिए सुलभ और इसकी विपरीत दशा में दुर्लभ होगी।

स्वर्ण-मानक—पुं० [सं०] अर्थ-शास्त्र में, वह स्थिति जिसमें कोई देश अपनी मुद्रा की इकाई या मात्रा का अर्घ, सोने की एक निश्चित तौल के अर्घ के बराबर रखता है। (गोल्ड स्टैन्डर्ड)

हाल—पुं० [अ०] १. अवस्था। दशा। २. बोल-चाल में, शोचनीय दशा। दुर्गति। दुर्दशा।

मुहा०—हाल करना= बहुत ही बुरी दशा को पहुँचाना।

दुर्गत करना। गत बनाना।

३. परिस्थिति। ४ समाचार। वृत्तान्त। ५. विवरण। ब्योरा।

मुहा०—*हाल माँगना=अधिकारपूर्वक यह पूछना कि यह बात क्यों या कैसे हुई। कैफियत तलब करन। उदा०—दे० 'सिकदार' में। ६. ईश्वर-चिंतन के समय होनेवाली तन्मयता। (मुसल०) उदा०—खेलत खेलत हाल करि, जो कछु होइ सु होइ।—कबीर।

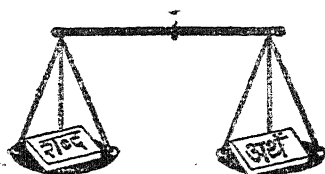
वि० वर्त्तमान। मौजूद।

पद—हाल में=कुछ ही दिन पहले। हाल का=कुछ ही दिन पहले का। ताजा।

अव्य० १. इसी समय। अभी। २. तुरन्त। चटपट।

स्त्री० [हिं० हिलना] १. हिलने की क्रिया या भाव। कंप। २. पहिए पर चढ़ाया जानेवाला लोहे का गोल बन्द।

प्रामाणिक हिन्दी कोश



सम्पादक

रामचन्द्र वर्म्मा

निर्विवाद रूप से अग्रगामी,
भली भाँति संशोधित, बहुत अधिक परिवर्द्धित,

दूसरा संस्करण

शब्द-संख्या ४५८५६
पृष्ठ-संख्या १६१६

दफ्ती की सुन्दर पेटी
सहित मूल्य १२॥)

पुस्तकालयों, विद्यालयों और अध्यापकों से डाक-व्यय का १॥) नहीं लिया जायगा। बिना २) पेशगी आये वी० पी० नहीं भेजा जायगा।

विस्तृत विवरण और नमूना मुफ्त मँगावें

साहित्य-रत्न-माला कार्यालय,
२० धर्म्म कूप, बनारस।

प्रामाणिक हिन्दी कोश

दूसरे संस्करण की विशेषताएँ

१—इस बार 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' में सूर, तुलसी, रहीम, कबीर, मीराँ, जायसी, केशव, बिहारी, वृन्द, पद्माकर, भूषण, घनानन्द, नन्ददास, रसखान, नागरीदास, हित हरिवंश, भगवत रसिक, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, दिनकर, बच्चन आदि पचासों प्राचीन और आधुनिक कवियों तथा लेखकों द्वारा प्रयुक्त १०–१२ हजार ऐसे नये-नये शब्द, प्रयोग, विवरण, अर्थ, मुहावरे, उदाहरण आदि बढ़ाये गये हैं, जो आज तक हिन्दी के किसी शब्द-कोश में नहीं आये हैं।

२—पहला संस्करण छपने के बाद गत दो वर्षों में भारतीय राज्यों और सरकारी विभागों, कार्यालयों आदि के दैनिक कार्य-संचालन के लिए जो हजारों नये शब्द बने और समाचार-पत्रों में इधर हाल में जो नये शब्द चले हैं, वे सब भी इस संस्करण में ले लिये गये हैं।

३—नित्य काम में आनेवाले सभी प्रकार के हजारों वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दों के लिए ढूँढ़कर भी और गढ़कर भी अच्छे और उपयुक्त पर्याय बढ़ाये गये हैं। उक्त कारणों से इस बार इस कोश की शब्द-संख्या ३१५९७ से बढ़कर ४५८५६ हो गई है। पहले संस्करण के अन्त में २००० शब्दों की जो अंग्रेजी-हिन्दी शब्दावली थी, वह भी इस बार बढ़कर प्रायः ५००० शब्दों की हो गई है; और यह संस्करण पहले से ड्योढ़ा हो गया है।

४—पहले संस्करण में व्याख्या, अर्थ, विवरण, व्युत्पत्ति आदि से सम्बन्ध रखनेवाली जो बहुत-सी त्रुटियाँ रह गई थीं, वे इस बार ठीक की गई हैं; पहले के अनेक अभावों की पूर्ति की गई है; अनेक नये तत्त्व और हजारों नई बातें बढ़ाई गई हैं; और हजारों व्याख्याएँ पहले से कहीं अधिक विस्तृत, विशद, शुद्ध और स्पष्ट की गई हैं। हजारों शब्दों में ऐसे नये अर्थ बढ़ाये गये हैं, जो अब तक किसी कोश में नहीं आये हैं।

५—तात्पर्य यह कि इस बार का संस्करण जानने योग्य हजारों नई बातों का अद्भुत, अनुपम और अपूर्व भण्डार और हिन्दी के वर्तमान गौरवपूर्ण विशाल स्वरूप तथा उच्च मर्यादा का एक मात्र प्रतीक बन गया है। इस बार इसे परम उपयोगी और आदर्श बनाने में इसके यशस्वी और सुयोग्य सम्पादक ने अपनी सारी शक्ति, सारा ज्ञान और सारा अनुभव लगा दिया है। हम दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि अपनी अनुपम और अभिनव विशेषताओं के कारण 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' हिन्दी शब्द-कोशों में निर्विवाद रूप से सर्व-श्रेष्ठ है। यह निश्चित सत्य है कि नये और उपयोगी शब्दों के चुनाव और नये नये अर्थों तथा व्याख्याओं की शुद्धता और स्पष्टता की दृष्टि से हिन्दी का कोई शब्द-कोश इसकी बराबरी नहीं कर सकता। इसकी सभी बातें अद्भुत और बिलकुल नया आदर्श स्थापित करनेवाली हैं। सभी प्रकार की ज्ञातव्य बातों के इस अनुपम और अपूर्व भण्डार का पूरा पूरा उपयोग करके इससे लाभ उठना और अपने मित्रों में इसका अधिक से अधिक प्रचार करना प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी का परम कर्त्तव्य है।

साहित्य-रत्न-माला कार्यालय,
२० धर्म्म कूप, बनारस।

अच्छी हिन्दी

[लेखक—श्री रामचन्द्र वर्म्मा]

क्या आप जानते हैं कि आप जो हिन्दी बोलते या लिखते हैं, उसमें कहाँ-कहाँ और कितने प्रकार की अशुद्धियाँ होती हैं ? समाचार-पत्रों और पुस्तकों में आप जो हिन्दी पढ़ते हैं, वह कितनी अशुद्ध और बे-मुहावरे होती है ? कोई शब्द ज़रा-सा आगे-पीछे हो जाने से या एकाध मात्रा हट-बढ़ जाने से ही वाक्यों के अर्थ और भाव में कितना अन्तर पड़ जाता है ? आपकी भाषा में से हिन्दीपन किस प्रकार निकलता जा रहा है और उसमें अँगरेजियत कितनी बढ़ती जा रही है ? यदि नहीं, तो आपका हिन्दी-ज्ञान अधूरा है। इन सब बातों का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए "अच्छी हिन्दी" पढ़िए।

लेखकों, कवियों, सम्पादकों, संवाददाताओं, अध्यापकों, विद्यार्थियों, व्याख्यानदाताओं, जन-सेवकों, व्यापारियों, कर्मचारियों, न्यायालयों के अधिकारियों और वकीलों के लिए 'अच्छी हिन्दी' पढ़ना आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य भी है। 'अच्छी हिन्दी' का अध्ययन सभी तरह के लोगों के लिए इतना अधिक लाभदायक है कि शब्दों में उसका वर्णन नहीं हो सकता।

भारत के प्रायः सभी प्रमुख विश्वविद्यालयों और हाई स्कूल-इण्टर बोर्डों, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा मद्रास, राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति वर्धा, गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी, हिन्दी विद्यापीठ बम्बई, महिला विद्यापीठ प्रयाग आदि सभी प्रमुख संस्थाओं की भिन्न-भिन्न परिक्षाओं के पाठ्य-क्रम में इस पुस्तक को स्थान मिला है।

छठा संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण, पृष्ठ संख्या ३७७; दाम ३), वी० पी० से ३।।)

साहित्य-रत्न-माला कार्यालय,
२० धर्म्म कूप, बनारस।

हिन्दी प्रयोग

[लेखक—श्री रामचन्द्र वर्म्मा]

यह पुस्तक विशेष रूप से हाई स्कूलों के नवें-दसवें और हिन्दी स्कूलों के आठवें वर्ग के अथवा इनसे मिलते-जुलते अन्य वर्गों के विद्यार्थियों के उपयोग के लिए लिखी गई है। केवल हिन्दी की परीक्षाएँ लेनेवाली संस्थाओं की प्रथमा और मध्यमा तथा शिक्षा-विभागों के हिन्दी शिक्षकों आदि की नार्मल ट्रेनिंग, सरटिफायट टीचर्स और कोविद सरीखी परीक्षाओं में बैठनेवाले लोगों की आवश्यकताओं का भी इसमें पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। एडमिशन या मैट्रिक तक की योग्यता प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों के लिए भी यह परम उपयोगी है। जो विद्यार्थी हिन्दी भाषा और व्याकरण की मुख्य-मुख्य बातें और हिन्दी के शुद्ध प्रयोग बहुत सहज में सीखना चाहते हों, उनके लिए यह पुस्तक पढ़ना अनिवार्य है। बहुत ही सहज और मनोरंजक ढंग से विद्यार्थियों को शुद्ध हिन्दी की शिक्षा देनेवाली यह पुस्तक अनुपम है। इससे आरम्भिक विद्यार्थियों को अपनी भाषा विशुद्ध और निर्दोष बनाने में बहुत अधिक सहायता मिलेगी और परीक्षा में वे अच्छे अंक प्राप्त कर सकेंगे। इसे उत्तर प्रदेश, बिहार, राजपूताने तथा मध्य-भारत की हाई स्कूल परीक्षाओं, पूर्वी पंजाब की हिन्दी भूषण, प्रयाग महिला विद्यापीठ की विद्या-विनोदिनी तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की प्रथमा परीक्षा के पाठ्य-क्रम में स्थान मिल चुका है। पाँचवाँ संस्करण; पृष्ठ १८०; दाम १।)

साहित्य-रत्न-माला कार्यालय,

२० धर्म्म कूप, बनारस।